

Ph.D. Thesis

आदिवासी विमर्श के संदर्भ में समकालीन
हिन्दी उपन्यास

**Adivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein
Samakaleen Hindi Upanyas**

*Thesis Submitted to
Cochin University of Science and Technology*

for the award of the Degree of

Doctor of Philosophy

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

राधिका सी.आर

RADHIKA C.R.

Dr. R. SASIDHARAN
Professor
Head of the Department



Dr. N. MOHANAN
Professor (Retd)
Supervising Teacher

**Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022**

January 2020

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled "**Adivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein Samakaleen Hindi Upanyas**" is a bonafide record of research work carried out by **RADHIKA C. R** under my supervision for **Ph.D.** (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. N. MOHANAN
Professor
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science &
Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin
Date : .01.2020

DECLARATION

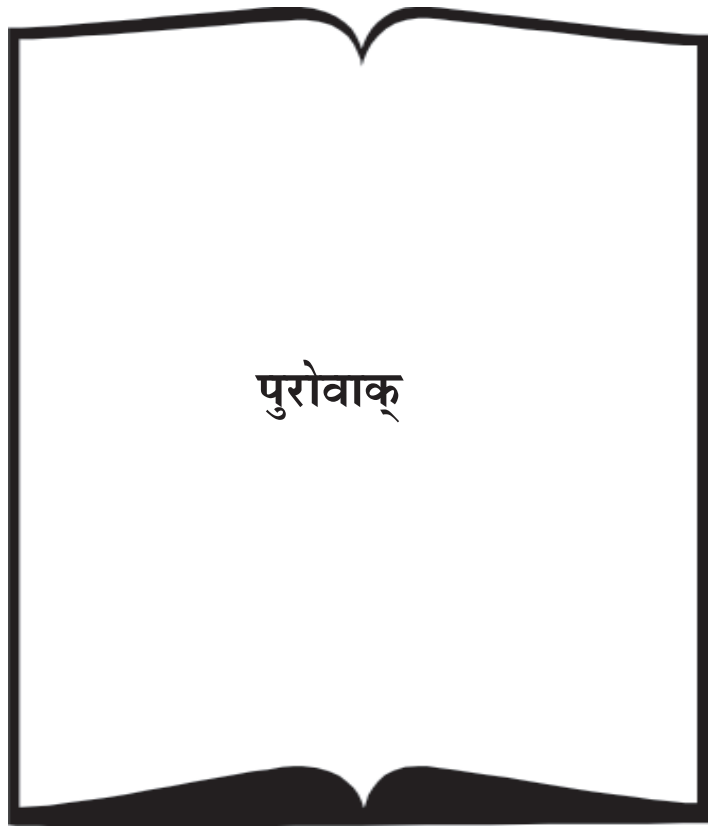
I hereby declare that the work presented in this thesis entitled "**Adivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein Samakaleen Hindi Upanyas**" based on the original work done by me under the guidance of **Dr. N. MOHANAN**, Professor, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

RADHIKA C. R

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : .01.2020



पुरोवाक्

पुरोवाक्

आदिवासी विमर्श आदिवासी जीवन की सजगता का परिणाम है। आदिवासी विमर्श का मुख्य लक्ष्य है अपने अस्तित्व और अस्मिता की खोज। 1990 के बाद की आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से आदिवासी शोषण की प्रक्रिया तेज़ होने लगी। इस शोषण के खिलाफ आदिवासी ने अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न आन्दोलन चलाए उसके साथ उनके साहित्य का भी आविर्भाव हुआ। उनका साहित्य उनके प्रतिरोध का दस्तावेज़ है। समाज, धर्म, संस्कृति और राजनीति के नाम पर आदिवासियों को बहिष्कृत करके उनकी अस्मिता को खत्म करने की साजिशें आज चल रही हैं। इससे सचेत करता है 'समकालीन आदिवासी साहित्य'।

समकालीन आदिवासी साहित्य के रूप बहुमुखी, व्यापक और यथार्थ परक हैं। यह प्रतिबद्ध साहित्य है जिसका लक्ष्य समाज और मानव का कल्याण है। वह जनतांत्रिक है, समता, बराबरी और भाई चारा में विश्वास रखता है। शिक्षा के महत्व को समझते हुए यह साहित्य-लेखन आज साक्षरता और चेतना, जन-जागृति के अभियान के साथ आगे बढ़ रहा है।

समकालीन आदिवासी साहित्य में आदिवासी उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। दो प्रकार के आदिवासी उपन्यास उपलब्ध हैं। आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास और आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गए गैर

आदिवासियों के उपन्यास। समकालीन संदर्भ में आदिवासी उपन्यासों ने अपनी अलग पहचान बना ली है। इसमें आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष का इतिहास वर्तमान है। इसलिए शोध का विषय रखा गया है **‘आदिवासी विमर्श के सन्दर्भ में समकालीन हिन्दी उपन्यास’**।

विषय के उचित विवेचन एवं विश्लेषण के लिए उसे पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। अंत में उपसंहार है।

इस शोध प्रबंध का पहला अध्याय है **आदिवासी विमर्श: स्वरूप एवं अवधारणा**। प्रस्तुत अध्याय में विमर्श, समकालीन संदर्भ के विविध विमर्श, आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य पर प्रकाश डालते हुए आदिवासी कौन, आदिवासी अस्मिता, दर्शन और आदिवासी संघर्ष की भी चर्चा की गयी है।

दूसरा अध्याय है **‘समकालीन हिन्दी उपन्यास में आदिवासियों के सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष’**। प्रस्तुत अध्याय में आदिवासी उपन्यासों के आधार पर आदिवासी समाज के सामने उपस्थित सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं पर विचार विश्लेषण किया गया है। आदिवासी समाज समानता का समाज है। उनकी जीवन शैली मनुष्य, प्रकृति तथा जीवन जंतुओं के साथ ताल मेल से जीने की है। लेकिन आदिवासी समाज पर हमेशा बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप होता रहा है। इससे उनके जीवन में बहुत समस्याएँ आ जाती हैं। वर्तमान संदर्भ में नई उदारवादी आर्थिक नीतियों की शुरुआत के कारण विदेशी कंपनियों द्वारा आदिवासी इलाकों का अंधाधुंध दोहन शुरू हुआ।

जंगल, नदी, पहाड आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मुनाफा कमाने का केन्द्र बन गया। इससे सामाजिक और आर्थिक स्तर पर उनके जीवन में जो परिवर्तन हुए उसकी अभिव्यक्ति समकालीन आदिवासी उपन्यासों में हुई है। उसका अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

तीसरा अध्याय है **‘समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति’**। प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत आदिवासी जीवन में राजनीतिक हस्तक्षेप, विकास की राजनीति, वननियम, राजनीतिक अपराधीकरण आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। जंगल और आदिवासी इलाकों में विकास और आधुनिक सुविधाओं के लिए अंग्रेजों के ज़माने से शुरु हुए राजनैतिक शासन और हस्तक्षेप देश के स्वतंत्र होने के पश्चात भी जारी रहे। देश के विकास के लिए आदिवासी समाज भी भाग लेने के लिए तैयार है। राजनीति को वह अपनी जीविका, शिक्षा, रोज़गार, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक चिंतन आदि में स्थान देने का प्रयत्न करता है। पर वर्तमान राजनीति उन्हें खुले दिल से स्वीकारने के बदले अपने शोषण का साधन बना लेती है। इस यथार्थ का विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

‘समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का विस्थापन’ शीर्षक चौथे अध्याय में विस्थापन के विभिन्न पहलू आदि पर चर्चा की गयी है। वर्तमान संदर्भ में आदिवासियों को जंगल से निकालने का षड्यंत्र चल रहा है। इसमें सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ है तथा वर्तमान राजनीतिक दल भी हैं। इसलिए आदिवासियों का वर्तमान संकटग्रस्त है। इस संकट कि

स्थिति में उन्हें विभिन्न कारणों से विस्थापित होता पड़ता है। परिणामतः उनकी सुरक्षा, अस्मिता संस्कृति, आवास व्यवस्था, आर्थिक स्थिति सब कुछ नष्ट होने की स्थिति में है। समकालीन आदिवासी उपन्यासों में विस्थापन से जूझते आदिवासियों के संघर्ष का चित्रण है। उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन है इस अध्याय में।

पाँचवाँ अध्याय का शीर्षक है **‘समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का साँस्कृतिक यथार्थ’**। किसी भी राज्य की पहचान वहाँ की संस्कृति होती है। सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहभागिता, आदिवासी संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण पक्ष हैं। इस अध्याय में आदिवासी जीवन की विशिष्ट संस्कृति, लोक साहित्य, लोकगीत, लोक कथाएँ, रीति-रिवाज़, उत्सव-त्योहार, धार्मिक विश्वास आदिवासी भाषा, शिक्षा का महत्व आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास है। परिश्रम, सहकार्य आदि से युक्त आदिवासी संस्कृति मानवता, प्रकृति प्रेम और पुरखों के प्रति आस्था रखनेवाली है। प्रस्तुत अध्याय में आदिवासियों की इस साँस्कृतिक खासियतों का अध्ययन करने का कार्य भी किया गया है।

पाँचवाँ अध्याय के बाद उपसंहार है। उसमें समकालीन आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श की जो अवधारणा है उसका निचोड़ प्रस्तुत किया गया है।

अंत में उन सभी ग्रंथों एवं पत्रिकाओं की सूची दी गयी है जिनका उपयोग शोधकार्य के लिए किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य आदरणीय डॉ.एन. मोहनन जी के निर्देशन एवं निरीक्षण में संपन्न हुआ। समय समय पर उन्होंने जो प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मुझे दिए हैं उसी के बलबूत्ते पर मैं आज इस मंजिल तक पहुँच सकी हूँ। शोधकार्य के लिए ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी मुझे उनका बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हो रहा है। आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने में मैं असमर्थ हूँ। फिर भी इस अवसर पर उनके प्रति हृदय से अपना प्यार और आभार प्रकट करती हूँ। उनकी मंगलमयी जीवन की कामना करती हूँ। मेरी यह प्रार्थना है कि आगे भी मेरे जीवने के हर कदम पर उनकी आशीष बनी रहे।

इस संदर्भ में मेरे इस शोध विषय की विशेषज्ञा आदारणीय डॉ. वनजा जी के प्रति भी तहे दिल से धन्यवाद व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे अभी तक शोधकार्य और व्यक्तिगत जीवन में भी सही मार्ग दिखाने का प्रतिभापूर्ण कार्य किया, जिसके लिए मैं हमेशा उनकी आभारी हूँ।

मेरे इस शोधकार्य की पूर्ति में विभाग के पुस्तकालय का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी विभाग के और विश्व विद्यालय के पुस्तकालय तथा वहाँ के कर्मचारियों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ।

सच्चे दोस्त कभी भी हमें गिरने नहीं देते न ही किसी के नज़रों में और न ही कदमों में। इस शोधकार्य की पूर्ति के लिए मेरी हर छोटी-मोटी ज़रूरतों के लिए बिना किसि हिचक के सदा उपस्थित मेरे प्रिय मित्र लता, जेस्ना,

रेवती, प्रत्युषा, शिल्पा, अभिरामी आदि के प्रति विशेष आभार प्रकट करती हूँ।

यह शोध -प्रबन्ध मेरे पूज्य माताजी और पिताजी को समर्पित है जिन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचने में काबिल बनाया है। मेरी बड़ी बहन अम्बिका और छोटी बहन कार्तिका की असीम प्रेरणा भी इस शोध को सार्थक बनाने में सहायक रही है। अंत में सर्वोपरी में उस सर्वेश्वर के प्रति भी आभारी हूँ, जिनकी कृपा से यह कहाँ सहि वक्त पर पूरा हुआ।

मैं यह शोध-प्रबन्ध सविनय विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ। इसकी गलतियों एवं खामियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सविनय

राधिका सी.आर

शोध छात्रा,
हिन्दी विभाग
कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय
कोच्चिन - 682 022

तारीख : .01.2020

विषयप्रवेश

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय

1-57

आदिवासी विमर्श: स्वरूप एवं आवधारणा भूमिका

- 1.1 विमर्श अर्थ एवं परिभाषा
- 1.2 भारत में विमर्श की परंपरा
- 1.3 समकालीन हिन्दी उपन्यास में विविध विमर्श
 - 1.3.1 स्त्री विमर्श
 - 1.3.2 दलित विमर्श
 - 1.3.3 पारिस्थितिक विमर्श
 - 1.3.4 वृद्ध विमर्श
 - 1.3.5 किसान विमर्श
 - 1.3.6 आदिवासी विमर्श
 - 1.3.6.1 आदिवासी कौन
 - 1.3.6.1.1 जनजाति
 - 1.3.6.1.2 देशज
 - 1.3.6.1.3 आदिवासी
- 1.4 आदिवासी अस्मिता
- 1.5 आदिवासी दर्शन
- 1.6. समकालीन संदर्भ में विविध मुखी समस्याएँ

- 1.6.1 वन पर आधारित जीविकोपार्ज की समस्या
- 1.6.2 कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था की समस्या
- 1.6.3 श्रम की समस्या
- 1.6.4 मूलभूत आवश्यकताओं की अभाव
- 1.6.5 ऋणग्रस्तता की समस्या
- 1.6.6 बेगारी की समस्या
- 1.6.7 विस्थापन
- 1.6.8 भाषा की समस्या
- 1.7 आदिवासी साहित्य
 - 1.7.1 आदिकाल
 - 1.7.1.1 प्रकृति का मानवी रूप में चित्रण
 - 1.7.1.2 लोकगीतों भावों की अभिव्यक्ति
 - 1.7.1.3 देशकाल पात्र और घटनाओं के अनुरूप कथा विकास
 - 1.7.1.4. जादु एवं जादू शक्तियों का महत्व
 - 1.7.1.5 पशु-पक्षी द्वारा संदेश भेजना
 - 1.7.2 मध्यकाल
 - 1.7.3 आधुनिककाल
 - 1.7.3.1 आदिवासी काव्य साहित्य
 - 1.7.3.2. नाटक
 - 1.7.3.3 उपन्यास साहित्य
 - 1.7.3.4 कहानी साहित्य
 - 1.7.3.5 निबंध और अन्य रचनाएँ

- 1.8 समकालीन आदिवासी साहित्य
- 1.9 आदिवासी संघर्ष के इतिहास
 - 1.9.1 संथाल परगना का विद्रोह
 - 1.9.2 हो विद्रोह
 - 1.9.3 कोल विद्रोह
 - 1.9.4 संथाल विद्रोह
 - 1.9.5 मुंडा विद्रोह

निष्कर्ष

दूसरा अध्याय

58-98

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष

- 2.1 समाज और साहित्य
- 2.2. आदिवासी समाज
- 2.3 आदिवासी समाज और आर्थिक पक्ष
 - 2.3.1 जंगल पर आश्रित जीवन
 - 2.3.2 परिस्थिति शोषण से उत्पन्न समस्याएँ
- 2.4 बाहरी हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ
 - 2.4.1 अशिक्षा
 - 2.4.2 स्त्री शोषण
 - 2.4.3 गरीबी

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय

99-129

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति

- 3.1 समकालीन साहित्य और राजनीति
- 3.2 विकास के राजनीति
- 3.3 आदिवासी समाज में राजनीति हस्तक्षेप
- 3.4 राजनीतिक अपराधीकरण
 - 3.4.1 राजनीतिक नेताओं की अमानवीयता
- 3.5 वननियम और आदिवासी जीवन
निष्कर्ष

चौथा अध्याय

130-158

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का विस्थापन

- 4.1 विस्थापन: अर्थ एवं परिभाषा
- 4.2 आर्थिक नीतियाँ और विकास योजनाएँ
 - 4.2.1 विकास से उत्पन्न प्राकृतिक आपदाएँ
- 4.3 विस्थापन
 - 4.3.1 विस्थापन से उत्पन्न बेरोज़गारी
 - 4.3.2 कृषक बनाम मज़दूर
निष्कर्ष

समकालीन आदिवासी उपन्यसों में
सांस्कृतिक यथार्थ

- 5.1 संस्कृति
 - 5.1.1 भारतीय संस्कृति
 - 5.1.2 भूमंडलीय संस्कृति
- 5.2 साहित्य और समस्कृति
- 5.3 आदिवासी संस्कृति
 - 5.3.1 लोकगीत
 - 5.3.1.1 आदिवासी साहित्य में लोकगीत
 - 5.3.1.2 संस्कार गीत
 - 5.3.1.3 विवाह गीत
 - 5.3.2 लोक कथाएँ
 - 5.3.2.1 साधु-सन्तों की कथाएँ
 - 5.3.2.2 मिथकीय कथाएँ
 - 5.3.2.3 व्यवहार ज्ञान संबंधी कथाएँ
- 5.4 आदिवासी संस्कृति में प्रकृति
 - 5.4.1 प्रकृति चिकित्सा
 - 5.4.2 सामूहिक खेती
- 5.5. आदिवासी धर्म
 - 5.5.1 पूजा पद्धति
 - 5.5.2 पुरखों के प्रति आस्था

- 5.5.3 शकुन/स्वप्न और भविष्यवाणी
 - 5.5.4 अंधविश्वास
 - 5.6 रीति-रिवाज़ एवं प्रथाएँ
 - 5.6.1 वैवाहिक प्रथाएँ
 - 5.7 आदिवासी संस्कृति और भाषा
 - 5.8 आदिवासी भाषाएँ और वर्तमान संदर्भ
 - 5.9 उत्सव, पर्व, त्योहार और हाट-बाज़ार
 - 5.10 लोक शब्द
 - 5.10.1 सांस्कृतिक लोक शब्दावली
 - 5.10.2 मुहावरे
 - 5.10.2.1 लोकोक्ति
- निष्कर्ष

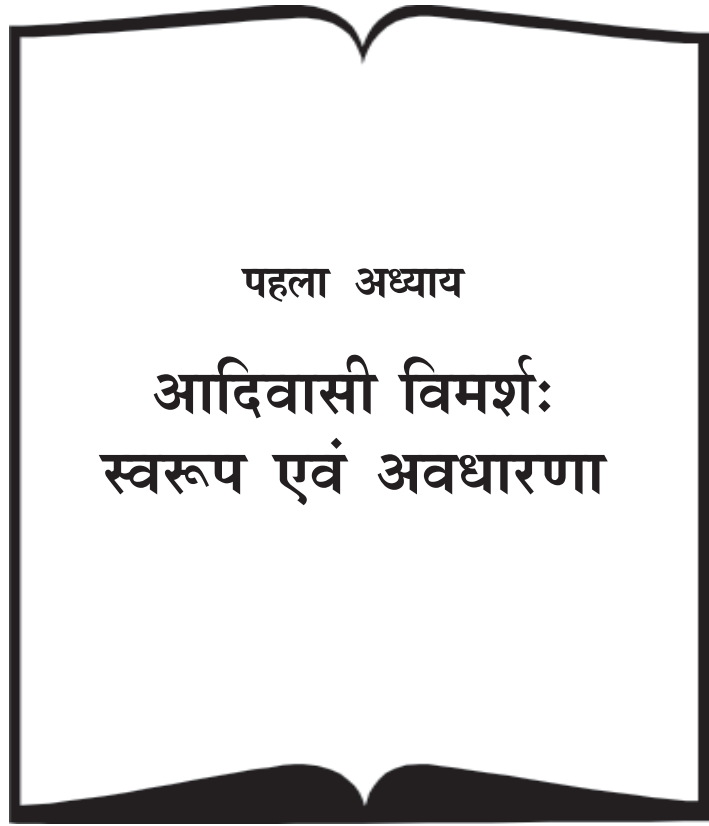
उपसंहार

216-220

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

221-234

परिशिष्ट



आदिवासी विमर्श: स्वरूप एवं अवधारणा

भूमिका

काल और परिवेश के अनुसार साहित्य भी परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं परिमार्जित होता रहता है। अतः समय-समय पर विभिन्न आन्दोलन भी होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य लेखन परंपरा ने आदिकाल से लेकर आज तक विभिन्न परिवर्तनों के साथ अनेक पड़ाव पार किये हैं। साहित्य रचनात्मक प्रतिरोध है। जब-जब साहित्य में नवीनता की ज़रूरत पड़ी या साहित्य को विकल्प की ज़रूरत हुई तो उस विकल्प या खालीपन को भरने के लिए एक नवीन धारा उभर आती है। आज भी साहित्य समाज के उन सभी संदर्भों को रेखांकित करते हुए चल रहा है जिनकी समाज को ज़रूरत है। हिन्दी साहित्य का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि आदिकाल से समकालीन तक का साहित्य समय-समय की सामाजिक ज़रूरतों का दस्तावेज़ है। यह बात सही है कि समकालीन साहित्य विमर्शों का साहित्य है। क्योंकि इस समय बहुत सारे वर्ग जो हाशिएकृत, दमित, उपेक्षित एवं शोषित थे वे अपनी हैसियत के लिए लड़ने लगे वे हैं- स्त्री, दलित, आदिवासी, वृद्ध, बाल, तीसरी लिंगी, पारिस्थिति जैसे विमर्श। ये सब स्वत्व विमर्श हैं क्योंकि उन्होंने अपने स्वत्व को पहचान लिया पर उनका निरंतर स्वत्व निषेध ही होता रहा। इसलिए यह एक पहचान है अपने को पहचानने। इसका परिणाम है स्वत्व विमर्श याने कि समकालीन साहित्य। आगे हमें देखना चाहिए कि क्या है विमर्श, उसका स्वरूप एवं परिभाषा।

1.1 विमर्श अर्थ एवं परिभाषा

विमर्श एक प्रकार का आलोचनात्मक कार्य है, जिसमें विवेक जन्य पहचान और प्रगतिगामी दृष्टि दोनों विद्यमान हैं। विमर्श अंग्रेज़ी के 'डिस्कॉर्स' का समानार्थक शब्द है। आधुनिक हिन्दी शब्द कोश के अनुसार 'विमर्श का अर्थ सोच विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना, किसी विषय पर कुछ सोचना, समझना, विचार करना, गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना, विचार-विनिमय सोच-विचार, परीक्षण, तर्कना, जाँचना और परखना किसी से परामर्श या सलाह लेना।"¹ मानक हिन्दी कोश में विमर्श की परिभाषा है "सोच-विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना, किसी बात या विषय पर कुछ सोचना, समझना, विचार करना, गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना। जाँचना और परखना, किसी से परामर्श या सलाह करना।"²

विमर्श किसी भी विषय को लेकर हो सकता है, व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, विचार तथा कोई विशिष्ट स्थिति आदि। इसका स्वरूप अत्यंत व्यापक होने के कारण समकालीनता के पूर्व भी इसकी व्यापकता देख सकता हैं। मंजु रूस्तगी ने अपनी स्त्री विमर्श: अवधारणा एवं स्वरूप नामक पुस्तक में इसका जिक्र यों किया हैं - स्वाधीनता पूर्व और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से लेकर सन् 1960 तक के लेखन में भी विमर्श की अभिव्यक्ति

-
1. गोविन्द चातक - आधुनि शब्दकोश, पृ. 529
 2. मंजु रूस्तगी - स्त्री विमर्श: अवधारणा एवं स्वरूप, पृ. 19

अवश्य मिलती है, परंतु इसमें विमर्श से ज़्यादा तत्कालीन कटु यथार्थ की तथा समस्याओं की भयावहता अधिक दृढ़ता के साथ अंकित करने का प्रयास परिलक्षित होता है। विमर्श केन्द्रित लेखन प्रायः 1960 के बाद ही नज़र आता है। शिक्षा, पश्चिमी साहचर्य और सामाजिक प्रबोधन ने लोक चेतना एवं लोकजागरण के साथ-साथ समकालीन साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। फलस्वरूप विभिन्न विषयों, प्रश्नों तथा मसलों पर संवेदना के साथ लेखन हुआ। और उनके विमर्श मूलक विचारों की अभिव्यक्ति हुई”¹

वास्तव में भारत में विमर्श शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के ‘डिस्कोर्स’ शब्द के लिए किया गया है। ‘विमर्श शब्द का अर्थ होता है कि व्यक्ति के बहाने सामुदायिक अस्मिता का विवेचन, विचार, समीक्षा या आलोचना।”² डिस्कोर्स शब्द विमर्श के लिए इसलिए मानता है कि ‘युरोप में भी वहां अब तक नकारे गए, तथा पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित वर्ग को लेकर ज़ोरों से बहस शुरू हुई थी। इस बहस के लिए वहाँ ‘डिस्कोर्स’ शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी ‘डिस्कोर्स’ शब्द के लिए हिन्दी में विमर्श शब्द का प्रचलन हुआ।”³

विश्व के अनेक देशों में यह देखा जा सकता है कि उस देश के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित शोषित, गुलाम तबकों पर कभी गंभीरता से विवेचन ही नहीं हुआ है। यह वर्ग हमेशा दोयम रूप में अथवा

-
1. मंजु रूस्तगी - स्त्री विमर्श: अवधारणा एवं स्वरूप, पृ. 13
 2. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे - विमर्श अवधारणा स्वरूप और प्रकार, पृ.84
 3. वही - पृ. 84

तथाकथित प्रस्थापित वर्ग की दया पर ही जीता रहा। बीसवीं सदी में जब शिक्षा के दरवाज़े सभी के लिए खोल दिए गए, जब व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर सब को उपलब्ध कराए गए तब इस वर्ग के भीतर अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर अनेक प्रश्न उठने लगे। ये वर्ग अपने खोए हुए मानवाधिकारों की माँग करने लगे। परिणामतः इस वर्ग की दशा पर प्रस्थापित और उपेक्षित दोनों वर्गों में जो बहस शुरु हुई उसी को विमर्श कहा जाता है। इससे पता चलता है कि विमर्श को अस्मिता के साथ मानवाधिकारों के साथ गहरा संबन्ध है। यह केवल व्यक्तिगत रूप में अपनी पहचान नहीं अपितु अपने जैसे संपूर्ण समूह की पहचान या समूह की अस्मिता से संबन्धित है। तो आज विमर्श का संबन्ध गहरे रूप से व्यक्ति की, समूह की, अस्मिता के साथ जोड़ा गया है। ठीक इसी प्रकार विमर्श विश्व में फैले किसी भी विषय को लेकर शुरु हो सकता है। विमर्श का संबन्ध परंपरा द्वारा नकारे गए वर्ग के साथ याने कि दबे, कुचले, शोषित, श्रमिक, स्त्री-पुरुषों के साथ जुड़ गया है।

1.2 भारत में विमर्श की परंपरा

विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा नोबल पुरस्कार प्राप्त अध्येता डॉ. अमर्त्य सेन ने अपनी एक पुस्तक में यह प्रामाणित किया है “विश्व के अनेक देशों की तुलना में, भारत में एक दूसरे के साथ निरंतर संवाद की लंबी परंपरा रही है। बौद्धकाल में बौद्ध संघों में सभी अध्येता एक साथ इकट्ठे

होकर किसी एक विषय पर गंभीर चर्चा करते थे। उनके इन विषयों में विविधता थी।”¹

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी विमर्श की छवियाँ देख सकते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा जिस संविधान का निर्माण किया गया, उसके कारण इस देश के सभी तबकों को शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं। संविधान सभा में दीर्घकाल तक जो बहस हुई, वह वास्तव में इस देश के भविष्य को लेकर किया गया ‘विमर्श’ ही था। और इस ‘विमर्श’ का लक्ष्य था, यहाँ के नकारे गए श्रमिक, शोषित, दलित, आदिवासी, स्त्री वर्ग को शिक्षा हेतु अनेक सुविधाएँ प्रदान करना तथा शिक्षित होने के बाद उन्हें नौकरियों में आरक्षण देकर आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना। बहुत धीमी गति से क्यों न हो यह प्रक्रिया तब से शुरू हुई थी।

विमर्श के आरंभिक दौर में याने कि स्वाधीनतापूर्व और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से लेकर सन् 1960 तक के लेखन में विमर्श की अभिव्यक्ति देख सकते हैं, लेकिन इसमें विमर्श से ज़्यादा तत्कालीन कटु यथार्थ की ओर समस्याओं की भयावहता अधिक देख सकते हैं। इसलिए इसमें आक्रामकता रही थी, वेदना और विद्रोह के स्थायी भाव होते थे। विमर्श केन्द्रित लेखन की शुरुआत प्रायः 1960 के बाद ही नज़र आता है। आज विमर्श एक साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र नहीं है इसका समर्थन करते हुए चन्द्रभान सिंह यादव

1. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे - विमर्श अवधारणा, स्वरूप और प्रकार चिन्तन - सृजन त्रैमासिक, पृ. 86

का कथन है कि 'आज़ादी के सत्तर वर्ष बाद भी देश का बड़ा समुदाय हाशिए पर पड़ा है। जिसमें दलित, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक मुख्य हैं। समाज वैज्ञानिक, साहित्यकार इन पर चिंतन लेखन कर रहे हैं गंभीरता से। स्त्री, दलित, आदिवासी विमर्श साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र नहीं है अपितु सदियों से हाशिए पर डाले गए समाज की आवाज़ है। यह श्रमशील समाज न सिर्फ सुविधा हीन अपितु आदिकाल से लेकर अधिकार से वंचित रहा।'¹ हिन्दी का समकालीन साहित्य और साहित्यकार इस प्रकार हाशिए पर पड़े लोगों के प्रति संवेदनशील थे। वह अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष कर सामाजिक सरोकार रखने वाले थे। साहित्य विधा में विशेषकर उपन्यास में इस सामाजिक सरोकार की प्रतिबद्धता कहीं ज़्यादा देख सकते हैं। उपन्यास का व्यापक फलक इस सरोकार की पृष्ठभूमि को तैयार करने में सक्षम साबित होता है।

1.3 समकालीन हिन्दी उपन्यास और विविध विमर्श

मानव चेतना और समाज में जो तरह-तरह के भौतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते रहे हैं और हो रहे हैं उन्हें मनुष्य-कथा के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेष्ठतम माध्यम उपन्यास है। मनुष्य के मानसिक और सामाजिक जीवन के विविध व्यापारों को जिस ढंग से उपन्यास में प्रस्तुत किया जा रहा है वह अन्य विधाओं की तुलना में एक विशिष्ट आयाम प्रदान करता है। इसलिए शाशिकला राय का कथन है कि 'उपन्यास मानव जीवन के स्वप्न की यथार्थ

1. चन्द्रभान सिंह यादव - साहित्य विमर्श, पृ. 26

अभिव्यक्ति है जिसमें मनुष्य की अभिलाषाओं का संघर्ष है, भविष्य का आईना है। आज का युग प्रश्नों का युग है। जीवन के नित बदलते आयामों में नित नए प्रश्न खड़े हो जाते हैं, जिनका निदान रच-रचाव, गढे-गढाए, पारंपरिक ढाँचों के उत्तरों से संभव नहीं है अर्थात् युगीन प्रश्नों से जूझते हुए उत्तरों का संधान करने के लिए उपन्यासकार बने-बनाए औपन्यासिक फार्म को तोड़ता है।”¹ उपन्यास में उभरते इन्हीं प्रश्नों को विमर्श के रूप में देखा जा सकता है। इसमें स्त्री विमर्श दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श और आदिवासी विमर्श का विचार दर्ज है।

1.3.1 स्त्री-विमर्श

स्त्री विमर्श का प्रारंभ पश्चिम से है। 1792 में मेरी वूल्स्टन ने ‘A Vindication of the rights of woman’ शीर्षक पुस्तक प्रस्तुत करते हुए स्त्री अधिकार एवं अस्मिता केन्द्रित विचारों को प्रश्रय किया दिया फिर 1928 में वर्जीनिया वूल्फ की पुस्तक A Room for ones own प्रकाशों में आयी । इस सिलसिले की तीसरी पुस्तक है Secon Sex जो 1949 में प्रकाशित हुई । 1963 में अमेरिका में बेटी फ्राइडन की पुस्तक The Feminine mystique और बाद में केट मिल्लर की Sexual politics प्रकाशित हुई। इन सारी पुस्तकों के केन्द्र में स्त्री और उससे संबन्धित बहुआयामी सन्दर्भों की चर्चा की गई है। यहीं से यूरोप में स्त्री विमर्श बल पकड़ता है। उसका प्रभाव सहज रूप से भारतीय साहित्य में तथा हिन्दी

1. शशीकला राय- कथा समय सृजन और विमर्श, पृ. 90

साहित्य में पडा। क्योंकि भारत एक उपनिवेशी राष्ट्र था अब भी उसकी संस्कृति एवं नीतियों का परोक्षी प्रभाव बना होता है। इसलिए फैमिनिसम विदेशी आन्दोलन है। उससे प्रभावित होकर हिन्दी में 1960 के बाद स्त्री विमर्श की चर्चा बल पकड़ने लगी है।

स्त्री विमर्श अपनी अस्मिता, आत्मचेतना और अस्तित्वबोध के प्रति उस की सजगता का परिणाम है। इसका मूल कारण नारी के अपने स्वत्व की पहचान ही है। यह पहचान उसने शिक्षा से प्रारंभ की। इसके अलावा सुधारवादी संस्थाओं के योगदान भी उस के उद्धार के लिए प्रमुख कारण बने। परिणामतः पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, सती प्रथा जैसी कूरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गाँधी जी जैसे नेताओं की भूमिका इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य में इसकी झलकें यद्यपि आदिकल और मध्यकल में देखी जा सकती है, फिर भी आधुनिक काल में ही उसका स्पष्ट रूप दिखायी देता है। यह दृष्टि सचमुच समकालीन संदर्भ में स्त्री विमर्श का रूप धारण कर लेती है। स्त्री विमर्श पुरुष का विरोध नहीं है बल्कि वितृसत्तात्मक मानसिकता का विरोध है जो अपनी समंती वृत्तियों के चलते स्त्री को मानवीय गरीमा न देकर उसे अपनी सँपत्ति समझती है। इस प्रतिरोध की प्रवृत्ति ने समकालीन स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाया। 'स्त्री को अपने अस्तित्व के बोध ने विमर्श को प्रेरणा दी। पुरुष की एकाधिकार शाही के वातावरण

से स्त्री को बाहर लाने का प्रयास ही स्त्री विमर्श है। स्त्री विमर्श और कुछ नहीं, अपनी अस्मिता की पहचान, स्व की चिन्ता, अस्तित्व बोध और अधिकार को जतलाने और बतलाने का विचार चिन्तन है।”¹

चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान अलका सरावगी, मृणाल पाण्डे, गीतांजलि श्री, राजी सेठ और मैत्रेयी पुष्या जैसी लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री विमर्श को नए धरातल पर ले आने का प्रयास किया। स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में प्रमुख है - कृष्ण सोबती का 'सूरजमुखी अँदरे के' बचपन के बलात्कार पर हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में पहला सशक्त उपन्यास होगा। 1972 में प्रकाशित यह उपन्यास कम उम्र की बच्चियों के बलात्कार की समस्याओं से अवगत कराता है।

ममता कालिया का उपन्यास बेघर (1971) में पति-पत्नी के शारीरिक संबन्ध को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। जिसमें आधुनिक समाज में पुरुष की संस्कारबद्ध जड़ता और संदेह-वृत्ति को उभारता है। उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने स्त्री के कुँआरेपन को लेकर पुरुष समाज में जो रुढ़ धारणाएँ हैं, वे न सिर्फ अवैज्ञानिक हैं बल्कि अमानवीय भी है यह स्थापित करने का प्रयास किया है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' (1962) एक ऐसी सुशिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री की मार्मिक कथा है जो पारिवारिक और

1. डॉ. अर्जुन चव्हाण - विमर्श के विविध आयाम, पृ. 18

आर्थिक कारणों से विवाह नहीं कर पाती और अतंतः अविवाहित रहने का निर्णय लेती है।

छिन्नमस्ता (1993) नामक प्रभा खेतान द्वारा लिखे गये उपन्यास में 'प्रिया' नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरंतर शोषित है। समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरुष की आदिम भूख से भी। इस में निरंतर शोषित 'प्रिया' अर्थ और 'सेक्स' यानी दोनों के मोर्चों पर कुचले जाने के विरुद्ध अपनी बचाव के लिए शोषक शक्तियों से चुनौती लेकर चल पड़ती है। प्रभा खेतान की 'पीली आँधी भी राजस्थान के मारवाड़ी सेठ गुरमुख दास रूंगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता में 'रनगटा हाउस' तक संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियों के बसने-उजड़ने और टूटने बिखरने की विकास-कथा है। इसमें परंपरा, पूँजी और पहचान के आत्मसंघर्ष में छटपटाती स्त्री-शक्ति की अपनी मुक्ति के लिए नये मार्ग खोजने की प्रक्रिया है।

गीतांजलिश्री की माई (1993) मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से निरंतर बदलते संबन्धों और बढ़ते अंतर्विरोधों की कथा प्रस्तुत की गई है। स्त्री के नैतिक संकटों, विस्फोटक स्थितियों, प्रतिरोधों दमनों और द्वंद्वों से उत्पन्न मानसिक पीडाओं का चित्रण भी इस में हुआ है।

1.3.2 दलित विमर्श

भारतीय समाज में लोकतंत्र के विकास के लिए एक बड़ी बाधा है जाति व्यवस्था। यह हिन्दु समाज की सामाजिक संरचना की ऐसी बुनियादी

विशेषता है जिसने समाज और संस्कृति को ही नहीं भारतीय राजनीति को भी प्रभावित किया। यहां व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता, स्वतंत्र पहचान आदि महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि उन्हें 'जाति' से जोड़कर ही समझा जाता है। अतः दलित साहित्य में सदियों से अपमानित, प्रताडित एवं वंचित समुदाय की विशाल पीड़ा व आक्रोश देख सकते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्यता के नाम पर बहुत पहले से दलितों को पढ़ने-लिखने का अधिकार नहीं रहा। इसलिए शुरुआत में दलित साहित्य के रूप में ज़्यादातर वही साहित्य मिलता है जो दलितों के बारे में गैर दलितों ने लिखा था। डॉ. तुलसीराम के अनुसार 'गैर दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य किसी अभिनेता द्वारा शेर की सफलतापूर्वक आवाज़ निकालने जैसा है, जबकि दलित साहित्यकार स्वयं शेर भी है और उसकी आवाज़ भी।'¹ दलित शब्द का अर्थ और व्याप्ति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का कहना है 'दलित एक संवेदन है विचार है जिसका अर्थ दबाया गया मनुष्य, किसी भी जाति, वर्ण, धर्म मन एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो दलित है।'²

हिन्दी का दलित साहित्य अस्सी और नब्बे के दशक में उभरे एक साहित्यिक आन्दोलन का परिणाम है जिसमें शिक्षा संपन्न तथा अपने स्वत्व बोध की पहचान से प्रबुद्ध दलित रचनाकार अपने और अपने जैसे अनेकों

-
1. डॉ. तुलसीदास - दलित साहित्य की अवधारणा, सं. डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 61
चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य
 2. डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का लेख - सुमनलिपी माजिक बंबाई 1944, पृ. 5

के जीवनयथार्थ को अलग ढंग से जन सामान्य के समने प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यही सचमुच अस्सी के बाद का दलित साहित्य है या दलित विमर्श। इसकी नींव पर अंबेडकरवादी विचारधारा का ठोस धरातल है।

दलित उपन्यासों में दलित जीवन की सच्चाई और स्वानुभूति का मार्मिक चित्रण देख सकते हैं। दलित जीवन की सच्चाई बेहद यथार्थवादी नज़रिए से अभिव्यक्त करने वाले कुछ उपन्यास हैं - ओमप्रकाश वात्मीकी द्वारा लिखित जूठन। तुलसी राम द्वारा लिखे गये 'मुर्दहिया' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में शिक्षा के लिए जूझते एक दलित की मार्मिक अभिव्यक्ति है। ये दोनों उपन्यास आत्मकथात्मक हैं।

दलित स्त्रियों को स्त्री होने के नाते दोहरे अभिशाप से गुज़रना पड़ता है। कौसल्या वैसंत्री अपने जीवन के दोहरे अभिशापों को व्यक्त करते हुए 'दोहरा अभिशाप' लिखा था। स्त्री का शोषण हर जगह चलता है इसलिए कि वह स्त्री है। ऐसा लग रहा है कि स्त्री शोषण करने के लिए सृजित हो। किसी भी जाति का क्यों न हो उसका विभिन्न ढंग से शोषण करता है। स्त्री अगर दलित भी हो तो उसका शोषण दुगुना हो जाता है। इस प्रकार के स्त्री होने के तथा दलित स्त्री होने की वजह से जिन-जिन शोषणों का सामना करना पड़ा है उसका जीवन्त चित्र है 'दोहरा अभिशाप'। यह दलित जीवन के एक अनदेखे पहलु का अनावरण भी है। सुशीला टाकभौरे का 'शिकजे का दर्द' भी ऐसी पीडा और दलित जीवन की विसंगतियों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना है।

ब्राह्मणवाद के मुखौटे को उखाड़ने वाला उपन्यास है 'छप्पर'। जयप्रकाश कर्दम ने आज़ादी के बाद स्वतंत्रता, समानता, एवं भाईचारे के नारे को बुलन्द करनेवाले भारतीय समाज में जीनेवाले दलितों के जीवन की अस्वतंत्रता, असमानता एवं नफरत को चित्रित किया है इस उपन्यासों में। उन्होंने यह भी दिखा दिया कि स्वाधीनता का सारा सुख भोगने वाले सचमुच उच्च वर्ग ही हैं। निम्नवर्ग अब भी शोषित, पीडित, एवं उपेक्षित है जिनकी मुक्ति का कोई राह दिखाई नहीं देता। इसके अलावा मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्ति पर्व', सूरजपाल चौहान का उपन्यास तिरस्कृत आदि उपन्यासों में भी दलितों ने अपने भोगे हुए यथार्थों को बड़ी तीव्रता से उजागर करने का प्रयास किया है। वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तर पर जो तिरस्कार वे भोग रहे हैं उससे वे सजग हैं। अपने स्वत्व की पहचान करते हुए उसको स्थापित करने के प्रयत्न का नाम है दलित आन्दोलन याने कि दलित विमर्श। दलित रचनाकार इस दलित अस्मिता या स्वत्व को स्थापित एवं बना रखने के संघर्ष में रचना को अस्त्र बना रहे हैं।

1.3.3 पारिस्थितिक विमर्श

मनुष्य और प्रकृति के आपसी संबंधों में जो कारगर परिवर्तन आया है आज के संदर्भ में उन्हें बड़ी सतर्कता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास समकालीन साहित्य में देख सकते हैं। आधुनिक सभ्यता के विकास में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का बहुत बड़ा योगदान है। मनुष्य अपनी

आवश्यकताओं से ज़्यादा शोषण प्रकृति का कर रहा है। यह प्रकृति के विनाश का कारण बन जाता है। इसलिए प्रकृति को स्वच्छ एवं सुरक्षित रखने की अनिवार्यता की पहचान का परिणाम है पारिस्थितिक विमर्श। मानव और पर्यावरण का बहुत ही गहरा संबंध है। पर्यावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव पर पड़ता है। यह प्रभाव तुरंत नज़र नहीं आता। किंतु काफी समय बाद स्पष्ट रूप से सही तस्वीर सामने आती है। अर्थात् मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के लिए अनेक अनर्थ कार्य करते रहते हैं यह अपने जीवन और समस्त जीव-जंतुओं के लिए भी हानिकारक है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पारिस्थितिक सजगता पर दृष्टि डालने वाले बहुत जारे उपन्यास हैं। वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और पार। डूब और पार में हमारी प्रमुख नदियों में बाँध बनाने के बाद जो त्रासदी उस प्रदेश पर वहाँ की जनता के जीवन में आ पड़ी है उसको व्यक्त करने का प्रयास है। बाँध के निर्माण के लिए नदी का तल बढ़ाने के लिए मिट्टी के बड़े-बड़े टीनें खड़े किए जाते हैं। इससे वहाँ का पारिस्थितिक संतुलन जो है बिगड़ जाता है। यह भी नहीं धीरे-धीरे नदी सूख जाती है उसका आगे का प्रवाह सूख जाता है अनेक एकट ज़मीनें बंजर बन जाती हैं। इस प्रकार की त्रासदी सचमुच मनुष्य निर्मित है। इस समझ से पारिस्थितिक सजगता जाग उठती है और प्रकृति की सुरक्षा एवं स्वच्छता के बिन मनुष्य कभी सुरक्षित नहीं रह पाएगा जैसा बोध उत्पन्न होता है।

‘इदन्नमम’ उपन्यास में विध्यांचल के पहाड़ी प्रदेशों पर होने वाले

पारिस्थितिक शोषण का जिक्र करते हुए मैत्रेयी पुष्पा ने इस सच्चाई की ओर इशारा किया है। कमलेश्वर का उपन्यास 'अनबीता अतीत' पर्यावरण की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इसमें अत्यंत मासूम वन्य जीव-पक्षियों की पीड़ा तथा उनके जीवन के संकटों को उद्घाटित करते हुए बताना चाहते हैं कि प्रकृति और मनुष्य के जीवन में सन्तुलन होना अनिवार्य है इसकेलिए जीव-जन्तुओं का भी संरक्षण अनिवार्य है।

रामदरश मिश्र द्वारा लिखित 'सूखता हुआ तालाब', शैलेश मटियानी के गोधूली गफूरन नवीन जोशी द्वारा रचा गया उपन्यास 'दावानल' आदि इसी कोटि के महत्वपूर्ण उपन्यास है। कहने का मतलब यह हुआ कि समकालीन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रकृति के अनुचित शोषण और इससे उत्पन्न त्रासद स्थितियों को व्यक्त करते हुए जन-मानस को सजग करने का कार्य किया है। विकास मानवराशी के आगे के प्रयाण के लिए अनिवार्य है। लेकिन यह विकास पर्यावरण या प्रकृति को नष्ट करते हुए नहीं होना चाहिए।

1.3.4 वृद्ध विमर्श

वृद्ध विमर्श का अर्थ है वृद्धावस्था की समस्याओं पर चिन्तन। अर्थात् वृद्धावस्था की समस्याओं को समझकर उनके लिए उचित समाधान ढूँढना। वृद्धावस्था मानव-विकास का वह चरम पड़ाव है जहाँ व्यक्ति के शारीरिक-सामर्थ्य का तो क्षरण होता है पर बौद्धिक रूप से परिपक्वता आ जाती है।

आज के युग में भारतीय लोकतंत्र में वृद्धों का वर्चस्व बना हुआ है। किंतु पारिवारिक व्यवस्था में वे विडंबनाग्रस्त हैं। उन्हें हाशिए पर ढकेल दिया गया है। समाज की इस दुःस्थितियों का चित्रण साहित्याकरों ने बड़ी संवेदनशीलता पूर्वक किया है। हिन्दी साहित्य में ऐसी कई उपन्यास हैं जिनमें वृद्धों के प्रति संवेदना व्यक्त की गई है।

वर्तमान संदर्भ में वृद्धों की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों में 'चित्रा मुद्गल' द्वारा लिखित गिलिगडू (2000) महत्वपूर्ण है। इसमें बुढ़ापे के दर्द, उपेक्षा, अत्याचार आदि पर प्रकाश डाला गया है। निर्मल वर्मा का अंतिम अरण्य, कृष्णा सोबती का 'समय सरगम', श्रीलाल शुक्ल का 'विश्राम पूर का संत' आदि उपन्यासों में वरिष्ठ नागरिकों की संवेदनाओं को केन्द्र में रखा गया है।

1.3.5 किसान विमर्श

किसान भारतीय समाज का मेरुदंड है। भारतीय चेतना का मूर्त-रूप है और औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित और पीडित समुदाय भी। किसान पूरे देश का अन्नदाता है। लेकिन आज के बाज़ारवादी दौर में उसको हाशिए पर छोड़ा गया है। आज़ादी के पहले के शोषकों को किसान समझ सकता था। लेकिन आज वे अपनी चलाकी से शोषण कर रहे हैं। आज़ादी के इतने साल बाद भी किसानों को न्याय नहीं मिला। कभी प्राकृतिक आपदाओं से कभी सरकारी नीतियों से वे परेशान हो रहे हैं।

आज किसानों के समक्ष अशिक्षा, गरीबी भुखमरी एवं आत्महत्या, जैसी अनेक समस्याएँ हैं उठ खड़ी हैं। साहित्य के क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद किसान जीवन की समस्याओं को लेकर लिखे गए उपन्यासों का अभाव है। लेकिन समकालीन संदर्भ में कुछ रचनाकारों ने नव औपनिवेशिक यंत्रणाओं से पीड़ित किसानों की समस्याओं को लेकर कुछ उपन्यास लिखे हैं उनमें 'शिवमूर्ति' के उपन्यास 'आखिरी छलांग, संजीव का फांस, तथा पंकज सुधीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' उल्लेखनीय है। जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' जो है सामाजिक व्यवस्था से संघर्ष करने वाले कृषक मज़दूर आदि की समस्याओं को सामने रखनेवाले उपन्यास है।

बल्लचनमा नागार्जुन द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें ग्रामीण जीवन जीनेवाले ईमानदार और परिश्रमि किसान के जीवन की गाथा है। शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित 'अलग अलग वैतरणी पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणासी क्षेत्र के ग्रामीण जीवन पर आधारित है। जमींदारी प्रथा से लेकर स्वातंत्र्योत्तर भारत की पूँजीवादी व्यवस्था तक के लगभग अर्ध-सदी का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

1.3.6 आदिवासी विमर्श

स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, वृद्ध विमर्श के समान समकालीन हिन्दी साहित्य का एक सशक्त विमर्श है आदिवासी विमर्श। यह भी उसकी अपनी पहचान का ही परिणाम है।

आदिवासी अपनी समाज परंपरा एवं संस्कृति को नए सिरे से परखने लगे और पाया कि वह हाशिएकृत है। उसने यह भी समझ लिया कि कहीं भी उसकी स्वीकृति नहीं होती सब कहीं तिरस्कृत है, शोषित है, पीडित है। यह समझ उसे अपने बारे में खुद कहने और खुद लड़ने के लिए विवश कर डालता है। अपने जीवन की समस्याओं पर चिंतन करते हुए अन्य लोगों के समान हमें भी जीने का अधिकार है यह समझकर वह लड़ने लगता है। उस समझ और संघर्ष का परिणाम है आदिवासी विमर्श।

1.3.6.1 आदिवासी कौन

आदिवासी देश के मूलनिवासी हैं। वे अपनी विशिष्ट समाज व्यवस्था को कायम रखने वाले समूह हैं जिनमें अपनी स्वतंत्र संस्कृति है, दर्शन है, इतिहास है, विरासत है और इन सबको अभिव्यक्त करने के लिए उनकी अपनी मातृभाषाएँ हैं।

मूलनिवासी होने के बावजूद इन के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाते रहे हैं कि ये कौन हैं? आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न उनके नाम से सन्दिग्ध हो जाता है। भारत की शासन व्यवस्था ने इनकी उपेक्षा की। संविधान में जन-जाति नाम देकर मुख्यधारा से अलग कर मूलभूत सुविधाओं से भी इन्हें वंचित कर दिया। आरक्षण की सुविधा तो है इन को पर जिस समाज को वाँछित शिक्षा न हो वहाँ आरक्षण से क्या फायदा? यु.एन.ओ.में भारत सरकार ने आदिवासियों के किसी भी तरह के अस्तित्व को नकार

दिया है। इसके बावजूद यु.एन. ओ में आदिवासियों की परिभाषा इस प्रकार है “आदिवासी राष्ट्र का पारस्परिक संबंध और व्यवहार करने के बारे में पूर्वानुभाव पर आधारित निश्चित नियमों का पालन करने वाले पारिवारिक समूह आदिवासी जाति है।”¹

मानव वैज्ञानिक गिलिन के अनुसार ‘किसी विशिष्ट भू-प्रदेश पर रहनेवाले, समान बोली, भाषा बोलनेवाले तथा समान संस्कृति का जीवन जीनेवाले स्थानीय जत्था को आदिवासी समाज कहते हैं।’²

मानव विज्ञान शास्त्र के शब्दकोश में ई.बी टायलर ने आदिवासियों पर खोज करते हुए कहा है कि ‘किसी सामाजिक भू-प्रदेश में रहनेवाले तथा एक बोली भाषा सांस्कृतिक बेमेल और एकात्मिक सामाजिक संगठन वाले समाज कबीला याने आदिवासी जनजाति है। उन्हें समान बुजुर्ग, समान देवता और आमतौर पर समान नेतृत्व होता है। इनके गिरोह के परिवार, आर्थिक, समाजिक, धार्मिक तथा पारिवारिक खून के धागे से संबंध संलग्न होते हैं।’³

श्रीमान गिलीन तथा टायलर जैसे मानवशास्त्र के वैज्ञानिकों की आदिवासी परिभाषा में काफी समानताएँ हैं। भारतीय मानववंश शास्त्रकार डॉ. डी. एन. मंजुदार ने आदिवासियों की उत्पत्ति की खोज करते-करते आदिवासी की एक परिभाषा यों दी है, ‘समान नामधारी एक ही भू-प्रदेश पर निवास करनेवाले शादी-ब्याह, धंधा के संदर्भ में समान निषेध नियमों का

1. जुगुल किशोर चौधरी - युद्ध आम आदमी, पृ. 82
2. डॉ. बापूराव देसाई मानव वैज्ञानिक गिलिन, आदिवासी साहित्य विधा शास्त्र और इतिहास, पृ. 20
3. डॉ. बापूराव देसाई - मानव वैज्ञानिक गिलिन, आदिवासी साहित्य विधा शास्त्र और इतिहास, पृ. 20

पालन करनेवाले एक ही बोली भाषा बोलनेवाले, परस्पर जिम्मेदारियाँ निर्मित करने की दृष्टि से एक अनुशासन बद्ध व्यवस्था प्रणाली स्वीकृत करनेवाले परिवार या परिवारों के कबीलों का इकट्ठापन याने आदिवासी समाज।”¹ दूसरे समाजशास्त्री विद्वान विलियम ‘पी स्कॉट के अनुसार ‘समान भाषा और संस्कृति वाला ऐसा समूह जिनका अपना विशिष्ट भू-प्रदेश व्याप्त हो और जो अशिक्षित और अपनी परंपरा से जुड़े हुए हो उन्हें आदिवासी कहना चाहिए।”²

निष्कर्ष रूप में कहे तो आदिवासी अपनी एक विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और परंपरा, प्रथा, स्वतंत्रता, परिश्रमता और साहसिकता को लेकर जीवन जीनेवाले विशिष्ट समूह हैं। लेकिन आज भी लोग मानते हैं कि आदिवासी जातियाँ जंगली हैं, असभ्य हैं अशिक्षित हैं। जंगली कंदमूल तथा पशुमांस के भक्षक हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि प्राकृतिक औषधि गुण, विज्ञान शास्त्र, सृजन कला आदि में जो क्षमता उनमें है वह किसी संस्कृति सुशिक्षित सभ्य जातियों में देखना मुश्किल है। क्योंकि वह निःस्वार्थ प्रकृति प्रेमी, तथा अपना सर्वस्व प्रकृति और प्राकृतिक संतुलन के अनुरूप बदलाकर जीनेवाले हैं।

आज विकास के नाम पर हो रहे व्यवहार से उनकी पूरी संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा खतरे में है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण अपने अस्तित्व और अस्मिता के बारे में सोचने वाले ये लोग आज अपनी

1. डॉ. शैलजा देवगांवकर - आदिवासी विश्व, पृ. 02

2. डॉ. शेख शहेनाज बेगम अहमद, आदिवासी साहित्य स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ. 12

पहचन को कायम रखने की कोशिश कर रहे हं। अपने स्वत्व बोध और आत्मपहचन के परिणाम स्वरूप समाज, संस्कृति साहित्य जैसे सभी क्षेत्रों में अपनी हैसियत क्या है? आगे कैसे बढ़ना है इन सारे प्रश्नों का पहला पडाव है उनके 'नाम' की सार्थकता। उनकी आदिम पहचान उनके नाम से जुड़ी हुई हैं। इसलिए डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार किसी जीवित और विकासमान कौम को परिभाषा के दायरे में बाँधना या बाँधने की कोशिश करने की बजाय ज़रूरी है इसके समानार्थी शब्दों और उनके प्रचलित अर्थों को सामने रखना।

संविधान में अनुसूचित जनजाति के नाम से आदिवासियों को संबोधित किया गया है। अनुच्छेद 366(25) में अनुसूचित जनजाति की व्यवस्था की गयी है। 'भारत देश में आदिवासी जनजातियों में प्रमुख रूप में ये हैं- नट, करनट, गोंड, भील, उराव, कातकारी, कोल, बारली, संथाल, हो, बौगा, चेंचू, बंजारा, मिझो, नागा, गुर्जर, खांसीकोली, दोबी, जुआंग, लिंबू, अबोर, मिरी, मिशमी, मीकिर, कवारी, गारी, कुकी, लुशाई, चकमा, मूमिज, बिरहोर, खोंड, सवरा, कोकर, कमार, मीणा, कटकरी कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कुरूबा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, कनिक्कर, सहरिया, गरासिया, पावरा, रावताला, राठ्वा, पाडवी, गवित, बलवी, माचवी, मुसहर आदि।'¹

ऐसे अनेक नामों में विभाजित होने पर भी उन्हें एकता में लाने का प्रयास उनके 'नाम' की सार्थकता में है।

1. जुगुल किशोर चौधरी - आदिवासी विमर्श: अर्थ और अवधारणा लेख से, युद्धरत आमआदमी, पृ. 81

1.3.6.1.1 जनजाति

भारत के आदिवासियों को अंग्रेजी में ट्राइब कहते हैं। उसका हिन्दी रूपांतरण है जनजाति। भारत के संविधान ने बाद में इसको ही स्वीकार किया। कहा जाता है कि 'ट्राइब' शब्द आदिवासियों को उपनिवेशी शक्तियों द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाने का द्योतक है। इसका हिन्दी रूपांतरण 'जनजाति' भी इस सीमा से मुक्त नहीं है। जनजाति में लगा हुआ 'जाति' जाति-व्यवस्था की ओर संकेत है, जबकि आदिवासियों के बीच जाति-व्यवस्था नहीं है। उनके बीच अलग-अलग कबीलों से विकसित विभिन्न समुदाय हैं लेकिन इनमें जाति व्यवस्था नहीं है।

1.3.6.1.2 देशज

अंग्रेज़ी के इंडीजिनस और एबोरिजनल शब्दों को भी लगभग समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है। दोनों शब्द उन व्यक्ति समूहों से परिचित कराते हैं जो किसी क्षेत्र विशेष के सबसे पुराने बाशिंदे हैं, देशज हैं, मूल निवासी हैं। देशज शब्द को लेकर 'मार्टिन कोबो' ने एक परिभाषा दी है जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी स्वीकार किया है। कोबो का मानना है, 'देशज' लोग समुदाय व राष्ट्र वे हैं, जिनकी अपनी सीमाओं के अतिक्रमण व उपनिवेशीकरण से पहले वहाँ विकसित समाजों से ऐतिहासिक निरंतरता रही है और वे इन सीमाओं में या इनके हिस्सों में पनप रहे समाजों के दूसरे तबकों से अपने-आप को अलग मानते हैं। वर्तमान में वे समाज का गैरप्रभावी तबका बनाते

हैं और अपने खुद के सांस्कृतिक ढाँचों, सामाजिक संस्थाओं और कानूनी तंत्रों के अनुरूप अपनी पैतृक सीमाओं और जातीय पहचान, जिसके आधार पर वे लोगों के रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, उसको सुरक्षित करने, विकसित करने और भावी पीढ़ियों को सौंपने के लिए दृढ़-संकल्प हैं।”¹

1.3.6.1.3 आदिवासी

आदिवासी शब्द भारतीय भूमि पर निवास कर रहे देश के मूल निवासियों या आदि निवासियों को वंशजों के रूप में मान्य तमाम लोगों, समुदायों के लिए इस्तेमाल होनेवाले एक व्यापक शब्द है। ‘आदिवासी’ शब्द में ‘इंडिजिनस’ या ‘देशज’ का भाव शामिल है और ‘एबोरिजनल’ या ‘मूलनिवासी’ का भाव भी।

जनजाति शब्द भारत के आदिवासियों के लिए इस्तेमाल करनेवाले एक संवैधानिक शब्द है। भारत सरकार किसी भी समूह को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के लिए इन आधारों का सहारा लेती है - आदिम लक्षण, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक पृथक्करण, समाज के एक बड़े भाग से संपर्क में संकोच और विछड़ापन। जाहिर है ‘जनजाति’ शब्द आदिवासी समाज की किसी विशेषता को प्रकट नहीं करता और किसी समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के आधार भी सीमाओं से मुक्त नहीं है।

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 17

इसके अलावा आदिवासियों को 'जंगली' था 'वनवासी' दक्षिणपंथी लोग कहते हैं। उनको असभ्य और बर्बर साबित करने के लिए प्रिमिटिव (आदिम) नेटिव (मूलनिवासी) और बेंड (आदि समूह, कबीला) जैसे शब्दों का भी प्रयोग करते आए हैं। ये सब एक स्थान विशेष पर उपस्थित जन समूह का बोध कराते हैं। फिर बी 'आदिवासी' शब्द में जंगलों में रहनेवाले तथा विशेष संस्कृति को लेते हुए रहने वाले का समग्र बोध निहित है। नैव (भोला-बाला) गिरिजन, 'लंगोटिया' आदि शब्द भी प्रचलित है लेकिन आदिवासियों को संपूर्णता में अभिव्यक्त करने की क्षमता उनमें नहीं। वे सब उनकी किसी न किसी विशेषताओं पर संकेत कर देने वाले हैं। इसलिए इन शब्दों में आदिवासी शब्द के विकल्प के रूप में प्रयुक्त होने की क्षमता नहीं है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता जी का कथन महत्वपूर्ण है कि - आदिवासी की पहचान और नाम छीनकर उसे "वनवासी" घोषित किया जा रहा है ताकि वह यह बात भूल जाए कि वह इस देश का मूल निवासी यानि आदिवासी है। वह भूल जाए अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना मूल धर्म है।"¹ अतः आदिवासी नाम उन्हें ज़्यादा आत्मीय, आत्मपहचान का बोधक लगता है।

संक्षेप में आदिवासी वे हैं जो जंगल को अपना घर बनाते हैं, खेती करके तथा जंगल से मिलने वाले खाद्य पदार्थों से जीवन बिताते हैं। प्रकृति की सुरक्षा में सतर्क तथा अपनी अलग संस्कृति एवं भाषा को बनाए रखते हुए जंगलों में रहना ही पसन्द करते हैं।

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी कौन, पृ. 51

1.4 आदिवासी अस्मिता

अस्मिता का प्रश्न आज महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक है। भूमंडलीकरण के इस दौर में दुनिया के ताकतवर देश सारी दुनिया को अपने अधीन में लाने के प्रयत्न में हैं। ऐसे संदर्भ में अपनी अस्मिता की पहचान एवं उसका संरक्षण महत्वपूर्ण मुद्दा बन गया है।

‘अस्मिता’ शब्द संस्कृत के ‘अस्मि’ शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है ‘मैं हूँ’, मेरी कुछ आवश्यकताएँ हैं, मेरी भी स्वयं की क्षमता है एवं मुझे भी चुनाव का अधिकार है।’ वह व्यक्ति को उसके परिवेश के परिप्रेक्ष्य में अस्तित्व प्रदान करती है। कहने का मतलब यह हुआ कि अस्मिता सत्ता और शक्ति के ध्रुवों के बीच अपनी हिस्सेदारी की वकालत का सिद्धांत या मंच है। यह किसी व्यक्ति के व्यवहार और उसकी वैयक्तिक विशेषताओं का किसी सामाजिक समुदाय की विशिष्टता के संदर्भ में किया गया संकेतन है। इस तरह व्यक्ति की अस्मिता किसी न किसी रूप में उसके किसी समाज विशेष से संपृक्त होने पर ही परिभाषित होती है। दूसरी ओर व्यक्ति की अस्मिता के संदर्भ में उसके आत्मानुभव का ही महत्व है।

आदिवासियों की अस्मिता उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखती है। वह अपने सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्व जल, जंगल और ज़मीन से भी जुड़ी हुई है। उनकी पहचान को पुष्ट करनेवाली भाषा, संस्कृति, जीवन शैली और उसकी विरासत की रक्षा किए बिना उसकी अस्मिता की

1. डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी - अस्मिता बोध और आदिवासी विमर्श आज के प्रश्न, पृ 30

रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व को कायम रखने की आवश्यकत पर बल देते हुए 'नेहरू' जी ने कहा 'अपनी संस्कृति को उन पर थोपा न जाने की नीति को अपनाना चाहिए। हम आज तक उन्हें सिखाने की ज़रूरत ही महसूस करते रहे हैं, उनकी जनतांत्रितक और समता मूलक व्यवस्था से हमने कभी कुछ सीखने की कोशिश ही नहीं की।'¹

आज के संदर्भ में आदिवासी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति इसलिए विरोध करते हैं कि इसके अंतर्गत अपने अस्तित्व और उसकी पहचान के लिए अनिवार्य जीवनदायी शक्तियों के तीनों स्रोत जल, जंगल और ज़मीन उनसे छीन रहे हैं अथवा नष्ट किए जा रहे है। इसलिए आज भारत में हर कहीं आदिवासियों की अस्मिता संकट में है। इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि सत्ता शासन के केन्द्र चाहे विदेशी हो या फिर देशी, आदिवासियों के प्रति सबका दृष्टिकोण उपनिवेशवादितापूर्ण रहता है। याने कि शासन वर्ग हमेशा इनकी उपेक्षा करते हैं।

यदि जंगल और ज़मीन न हो तो आदिवासी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। आज सर्वत्र जंगलों से इन लोगों को भगाने की कोशिश चल रही है। अपने ही देशवासियों द्वारा निरंतर शोषण और दुर्व्यवहार चल रहे हैं। निरंतर अपमान सहने के कारण उनके मन में शोषण के खिलाफ विद्रोह की भावना उठने लगी है। आदिवासियों का वह विद्रोह विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग समय पर हुआ है। अलग-अलग क्षेत्रों में आदिवासियों के इन विद्रोहों

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. 50

को नेतृत्व देनेवाले नेता भी भिन्न रहे हैं। लेकिन ये विद्रोह आदिवासी कौन है? उसकी अस्मिता क्या है? इतिहास में उसका स्थान कहाँ है? आदि प्रश्नों से रूपायित हैं।

आज़ादी के पहले सूदखोरों, ज़मींदारों एवं व्यापारियों की जमात ने इन आदिवासियों का खूब शोषण किया था। इनके पास अपनी भूमि और जंगल हैं, यही उनकी मुख्य संपत्ति है। अँग्रेज़ों ने अपने राजस्व नीति में स्थायी बन्दोबस्त के लिए ज़मीन से जुड़े तमाम अधिकार ज़मींदारों के हाथ में दे दिया। आदिवासी जो समूहिक रूप से पूरे गाँव एवं जंगल के मालिक थे उन्हें उस ज़मीन से बेदखल कर दिया गया। बाद में आज देखे तो इन्हें खेतिहर मज़दूर के रूप में सौंप दिया गया। आदिवासियों के विस्थापन ने उनकी अस्मिता को भी खत्म कर दिया। अब आदिवासी अल्पसंख्यक और विनष्ट होने की स्थिति में है।

1.5 आदिवासी दर्शन

आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार “आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव पर यकीन करता है इसलिए इसमें स्वानुभूति, और सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वरसंगीत सुना जा सकता है।”¹

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 108

आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति के ताल-लय और संगीत का अनुगामी होना। इसमें प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और उसकी गरिमा का सम्मान करना है। प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित है। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाय समूचे जीवन-जगत् को महत्वपूर्ण मानता है। मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणि और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है। इसलिए उन सबको बचाया जाना ज़रूरी है, साथ ही नदी, नाले पहाड़, जंगल आदि का भी बचाया जाना ज़रूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाज़ारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जीजीविषा। वर्तमान समय में निराशा और कुंठा का माहौल सब कहीं है। इस संदर्भ में आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नज़रिए से देखने और जीने का वकालत करता है। सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल जो है वह आदिवासी जीवन को आनंदमयी बनाया रखता है। वहाँ न पैसे की लालच है न मुनाफे कमाने की अंधी दौड़। बल्कि अपने सुखमय जीवन के लिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव है।

इसमें धरती को संसाधन की बजाय माँ मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता है। रंग, नस्ल, लिंग धर्म आदि के प्रति विशेष आग्रह भी यहाँ नहीं देख सकते। याने की यह दर्शन हर तरह की गैर बराबरी के खिलाफ का है, समत्व एवं समभावना का है।

1.6 समकालीन संदर्भ में विविध मुखी समस्याएं

आदिवासियों की समस्याएँ विविध मुखी है। अपने जीवन परिवेशों में रहकर पारस्परिक पद्धति से जीवनयापन करते हुए जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं, वे एक प्रकार की हैं। दूसरे प्रकार की समस्याएँ वे हैं, जो संपूर्ण भारतीय जीवन में स्थायी एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न हुई है। जिसने विकास के अनुरूप आदिवासी-जीवन में बदलाव उत्पन्न किया है।

आदिवासियों की समस्याओं में सर्वप्रथम ध्यान देने की बात है अर्थ की समस्या। सामाजिक व्यवस्था का संपूर्ण आधार अर्थव्यवस्था होने के कारण यही समस्या जनजातियों में महत्वपूर्ण है। अर्थ व्यवस्था पर आधारित कुछ समस्याओं के विश्लेषण से ही यह पता चल सकता है।

1.6.1 वन पर आधारित जीविकोपार्जन की समस्या

आदिवासियों के लिए अर्थ का प्रमुख स्रोत वन ही है। आज भी लगभग 50 प्रतिशत जनजाति वनों या वनों से सम्बन्धित वस्तुओं पर निर्भर है। आदिवासी समाज की आजीविका जल, जंगल और ज़मीन पर आधारित

है। ब्रिटिश शासन के समय अंग्रेजों ने जंगल को व्यापारिक सामग्री घोषित कर दिया। जब भारत स्वतंत्र हुआ और अपनी सरकार बनी तो हमारी सरकार ने जंगल का व्यापार तो जारी रखा और जंगल में आदिवासियों का प्रवेश भी वर्जित कर दिया। आदिवासी अपनी आजीविका के लिए बहुत हद तक जंगल पर निर्भर करते हैं। लेकिन आज स्थिति यह है कि जंगल काट लिए गए हैं। और यह कटाई के कारण अनेक हैं। जैसे व्यक्तिगत हितों के कारण, उद्योग या आवास निर्माण के कारण या फिर बाँध आदि सार्वजनिक हितों की पूर्ति के कारण कटाई होती रहती है। इसलिए वनों का क्षेत्र कम होता जा रहा है। लेकिन आदिवासियों संख्या में वृद्धि होती जा रही है। वन की सारी चीजें इनकी आजीविका के प्रमुख साधन हैं परंतु वन संरक्षण अधिनियम के कारण इन साधनों से वे वंचित रह गए हैं। जल, जंगल, ज़मीन जैसे जीवन के आधार तत्वों से वे कोसों दूर हैं।

1.6.2 कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था की समस्या

कृषि आदिवासियों के जीवन-यापन का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है। वनों से मिलने वाली प्राकृतिक संपत्तियों पर मात्र जीवन बिताना वर्तमान संदर्भ में आदिवासियों के लिए मुश्किल की बात है। यह जानकर वे खेती-बाड़ी की ओर मुड़ गए। पर जंगलों में खेती करने की अनुमति पहले थी पर अब सरकार पारिस्थितिक सुरक्षा का मुद्दा उठाकर वे उन्हें खेती-बाड़ी से मना करते हैं और जंगलों में रहने की अनुमति नहीं देते। इसलिए अब

आदिवासियों के सामने जीविकोपार्जन का समस्या सबसे बड़ी समस्या हो गयी है। इसलिए गरीबी के कारण ये लोग अपने पास जो मिट्टी बची हुई है उसको भी बेच डालने के लिए विवश बन जाते हैं या किसी ज़मीन्दार के पास गिरवी रखने के लिए। फिर साहूकार या जमीन्दार धोखे से भूमि के मालिक बन जाते हैं।

1.6.3 श्रम की समस्या

आदिवासियों की जीविका का तीसरा प्रमुख साधन श्रम है। भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समान दर्जा समान अवसर प्रदान करने का प्रावधान है। परंतु कुछ ऐसे कारण हैं जिससे आदिवासी को सरकारी नौकरी में उच्च दर्जा प्राप्त नहीं हो पाता। उन्हें हमेशा निम्न स्तर की नौकरी ही प्राप्त हो जाती है। इस के लिए भी वे जंगल छोड़कर बाहर जाना नहीं चाहते। अगर जाने भी तो उन्हें उचित वेतन भी नहीं देते तथा विभिन्न प्रकार से उनका शोषण भी किया जाता है। इसलिए आदिवासी अपने जीवन-यापन के लिए धनी व्यक्तियों, ज़मीन्दारों सरकारी अधिकारियों आदि के घर में घरेलू काम करते हैं या फिर मिलों, कारखानों आदि में श्रमिक के रूप में या कृषक मज़दूर के रूप में काम करते हैं। इसलिए जीवन भर गुलाम बन कर रहने की स्थिति में वे पहुँच जाते हैं। आर्थिक, शारीरिक और श्रम के स्तर पर निरंतर शोषण के शिकार भी वे बन जाते हैं।

1.6.4 मूलभूत आवश्यकताओं की अभाव

सरकार ने आदिवासियों के लिए बहुत सारी सुविधाएँ प्रदान की हैं। वे अगर कोई अपना व्यवसाय या उद्योग चलाना चाहते हैं तो उन्हें बैंक से ऋण भी मिल सकता है। सचमुच वे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति वन से ही पूरा करते आ रहे हैं। लेकिन अब उनकी भूमि पर विभिन्न प्रकार के उद्योगों का कार्यक्रम हो रहा है। छल द्वारा उनकी जमीनें छीन लेती जा रही हैं। इस षड्यंत्र के कारण जंगल या कृषि पर आधारित अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है।

1.6.5 ऋणग्रस्तता की समस्या

आदिवासियों में ऋणग्रस्तता की अधिकत देख सकते हैं। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आदिवासी छोटे-बड़े कार्य कर लेते हैं पर अज्ञानता के कारण अपनी ज़मीन में खेती-बाड़ी करने के लिए वे ज़मींदारों से ऋण लेते हैं। उस के लिए वे अपनी जमीन, पशु या अन्य कोई चीज़ गिरवी रखते हैं। पर ठीक समय पर ऋण चुका न कर जाने के कारण उनी अपनी सारी संपत्ति नष्ट हो जाती है फिर भी ऋण बनी रहती है तो बेटे बेटों को नौकर के रूप में रख देते हैं। इस प्रकार पीढ़ि-दर पीढ़ि तक ऋण बढ़ती जाती है। यह सचमुच शोषण है। अज्ञान का लभ उठाते हुए किया जानेवाला शोषण। इससे कभी आदिवासी मुक्त नहीं हो पाता। वे आजीवन ऋणी रह जाते हैं।

1.6.6 बेगारी की समस्या

अज्ञता, भोला-भालेपन, डर पोक स्वभाव के कारण ज़मींदारों और अन्य धनिक लोगों ने आदिवासी समुदाय को अपने घरों में बेगार करने को मज़बूर कर दिया है। आदिवासियों के लिए योजनाओं और नीतियों का निर्माण करनेवाले प्रायः आदिवासियों की आर्थिक परिस्थितियों से अनभिज्ञ होने के कारण आज भी यह बेगारी व्यवस्था चल रही है।

1.6.7 विस्थापन

विस्थापन का अर्थ है अपने घर की ज़मीन से उजाड़ दिया जाना। घर का अर्थ सिर्फ मिट्टी -गारे की दीवारें नहीं होता। घर का अर्थ होता है सुरक्षा का वह एहसास जो हमें जानवर से इन्सान बनाता है। घर का अर्थ होता है अपने पूर्वजों की स्मृतियों के साथ जिनके स्नेह की छाया में जीवन व्यतीत करने का सुख।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रहित और राष्ट्र के विकास के नाम पर आदिवासियों की ज़मीन का सार्वजनिक प्रतिष्ठानों, खदानों, बड़े बाँधों आदि के लिए अधिग्रहण हुआ। इससे आदिवासियों को एक बिलकुल नया संकट पैदा हुआ वह है विस्थापन की समस्या। विस्थापन से जीवन के आधार तत्व जल, जंगल और ज़मीन से विच्छिन्न होकर जीवन जीने के लिए विवश पड़े लोगों को अन्य अनेक समस्याओं का भी सामना करना पडा। उनके जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड गया।

कोयला-खदानों के बहाने, औद्योगिक इकाइयों लगवाने हेतु या जंगल संरक्षण हेतु आदिवासी बस्तियों को उजाड़कर राष्ट्रीय उद्यान बनाये गये। बहुत बड़ी संख्यामें आदिवासी बेघर हो गए।

1.6.8 भाषा की समस्या

आदिवासी समाज के विकास में सबसे बड़ी समस्या भाषा की है। भाषा ही मनुष्य की भावनाओं और विचारों की वाहिका होती है। मनुष्य अपनी भावनाओं को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है बोलकर और लिखकर। किसी भी भाषा की सर्वोत्कृष्ट कृति साहित्य ही है। आदिवासी साहित्य का अमूल्य भण्डार उन के लोकगीतों में है, जिनमें संघर्ष गाथा, इतिहास विचार, भावना आदि सुरक्षित हैं। आदिवासी भाषा की अपनी कोई लिपी नहीं है इसलिए बहुत सारी भाषाएँ विनाश के कगार पड़ी खड़ी हैं। मिशनरियों के आगमन से इनकी भाषा में विकास हुआ है। फिर भी आज के संदर्भ में शिक्षा, साहित्य और सामाजिक विकास के बावजूद भाषा का व्यवहार बिलकुल सीमित है। इसके अलावा मुख्यधारा समाज की उपेक्षा के कारण अपनी भाषा का प्रयोग भी वह कम करके दूसरी भाषाओं का प्रयोग करने में विवश हो जाते हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा ओर भी बहुत सारी समस्याएँ हैं जो आदिवासियों के जीवन को कुंठित करती हैं, जैसे अंधविश्वास, मदिरापन, गरीबी, बाहर के लोगों के हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ आदि। इन सारी

समस्याओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आदिवासियों के सुधार के लिए समय-समय पर उनकी समस्याओं पर साकारात्मक कार्यवाही करना नितान्त आवश्यक है। तभी इन समाज में प्रगति संभव हो पाएगी।

1.7 आदिवासी साहित्य

साहित्य सचमुच आवाज़ है, हाशिएकृतों शोषितों एवं पीड़ितों की आवाज़। वे अपनी हक के लिए लड़ते हैं अधिकार की माँग करते हैं, अस्मिता की पहचान कर लेते हैं अपनी हैसियत के लिए आवाज़ उठाते हैं। यह सदियों से दमित किए गए वर्ग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। हाशिएकृत, शोषित, एवं दमित वर्ग की तरह आदिवासी भी अपनी रचनाओं के ज़रिए अपनी आवाज़ को जो बिल्कुल अलग एवं अद्वितीय है बुलन्द करते हैं। इस अर्थ में यह भी एक अस्मिता विमर्श है।

मुख्यधारा के लोगों द्वारा आदिवासियों के जीवन पर आधारित जो साहित्य रचा गया है उसका सम्मान एवं स्वीकार करते हुए कहना चाहते हैं कि वह अपूर्ण है। क्योंकि अन्य अस्मिता विमर्श के समान उसमें भोगे हुए जीवन यथार्थ की पीड़ा का अनावरण नहीं हुआ है। जीवनानुभव से निःसृत शब्दों में अनुभव की तपिश रहती है। वह तपिश आदिवासी साहित्य में उपलब्ध है। इसलिए गैर आदिवासियों की महत्ता को स्वीकारते हुए आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य को श्रेष्ठ मानना ही पड़ता है। इसलिए आदिवासी

साहित्य नाम के औचित्य पर सन्देह करने की कोई ज़रूरत नहीं। महादेव टोप्पो का कहना है - “किसी भी भाषा समूह या समुदाय का साहित्य उसके समग्र जीवन का शब्दों द्वारा चित्र है और अगर यह भाषा, आदिवासी समुदाय से जुड़ी है तो निश्चय ही इस साहित्य का नाम अन्य साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य होगा।”¹

आदिवासी साहित्य किसी एक भाषा या भौगोलिक सीमा से बँधी हुआ नहीं है। ये विशेष मानसिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक संदर्भों में, विशिष्ट जीवन-शैली के वातावरण में पनपे हुए हैं। साहित्य जीवन को देखने समझने का अलग दृष्टिकोण एवं अनुभव देकर मनुष्य को दृष्टि संपन्न बनाता है। आदिवासी साहित्य में भी यही प्रयास देख सकते हैं लेकिन आदिवासी वातावरण में विकसित अपने नज़रिये से।

इसमें आदिम मानव के सरल, सहज, पवित्र, स्निग्ध, स्नेहपूर्ण, भावुक एवं संवेदनशील हृदय की रागात्मक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। साथ ही आदिवासी जीवन का सत्य यथार्थ संकट, वर्तमान स्थिति, संस्कृति एवं प्रकृति केन्द्रित जीवन दृष्टि का भाव समाहित है।

आदिवासी साहित्य विमर्श का प्रारंभ सन् 1960 से हुआ। इस संदर्भ में आदिवासी कार्यकर्ता डॉ. माहेश्वरी गावीत ने अपने आलेख ‘आदिवासी साहित्य से आदिवासी जीवन का परिवर्तनात्मक दर्शन’ में लिखा है कि “आदिवासी साहित्य जीवन के रूप में जिस साहित्य का नामनिर्देश किया

1. महादेव टोप्पो - सभ्यों के बीच आदिवासी, पृ. 73

जाता है वह साहित्य आमतौर पर सन् 1960 के बाद उदयोन्मुख हुआ। और सन् 1975 के बाद वह अधिक सशक्त हुआ। स्वातंत्र्योत्तर काल के भारतीय सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन संपन्न हुए हैं। राजनीतिक परिवर्तन, शिक्षा-प्रसार पंचवर्षीय योजना आदि के कारण सामाजिक जीवन में आमुल्याग्र परिवर्तन हुआ। लोकतंत्र तथा शिक्षा का विचार आदिवासियों तक पहुँचा।”¹

डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार ‘आदिवासी साहित्य की शुरुआत सन् 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण, विदेशी कंपनियों के निवेश और पसरते बाज़ारवाद से आदिवासियों और उनकी प्राकृतिक संपदाओं पर हस्तक्षेप बढ़ा। तब प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के विरोध में शिक्षितों के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों की रचनात्मक उर्जा को आदिवासी साहित्य की संज्ञा दी गई।”²

रमणिका गुप्ता भी आदिवासी साहित्य को आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच पैदा हुई एक चेतना के रूप में मानती है वह कहती है कि ‘दूसरों द्वारा अपने दुख की चर्चा की बजाय अपना दुख खुद व्यक्त करने की चेतना के साथ ही साथ जगी सदियों की चुप्पी तोड़कर प्रस्थापितों द्वारा घेरे गए दायरे और लक्ष्मण रेखाएँ तोड़ने की चेतना।”³

‘वंदना टेटे’ के अनुसार आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इनसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है,

-
1. डॉ. बापूराव देसाई - आदिवासी साहित्य विधा, शास्त्र और इतिहास, पृ. 33
 2. गंगा सहाय मीणा - बहुजन वार्षिकी अप्रैल 2013
 3. सं. रमणिका गुप्ता - आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 06

जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुन्दर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।”¹

कहने का मतलब यह हुआ कि आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है, कल्पना और मनोरंजन का किस्सा नहीं। हिन्दी साहित्य की तरह इसे भी तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

1.7.1 आदिकाल

आदिवासी साहित्य का आदिकाल इ.श. 1854 पूर्व का साहित्य समझा जाता है। यह साहित्य ‘होड़’ अवतार या लोकयुग के नाम से प्रचलित है। आदिकाल में आदिवासी होड़, मुंडारी आदि नाम से परिचित थे। इस समय का समाप्त आदिवासी साहित्य मौखिक रूप में ही ही उपलब्ध है। इनके मौखिक साहित्य में कहानी, गीत, गाथा कथा, मुहावरे लोकोक्तियाँ, कहावतें दि देख सकते हैं। लोक साहित्य के रूप में प्रख्यात इसमें मानव की परंपरागत भावनाएँ, एवं चेतनागत अभिव्यक्तियों का लेखा-जोखा निहित है। इस समय के साहित्य की मुख्य विशेषताएँ हैं:-

1.7.1.1 प्रकृति का मानवी रूप में चित्रण:- आदिवासी लोक कथाओं में और लोकगीतों में प्रकृति का वर्णन मानवी रूप में किया है। इनमें उनका जीवन और संस्कृति का जैसा सर्वव्यापी रूप दिखाई देता है वैसा कहीं नहीं है।

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, आदिवासी साहित्य अवधारणा, परंपरा और इतिहास’ लेखने से, पृ. 43

1.7.1.2 लोकगीतों में भावों की अभिव्यक्ति:- इनके लोकगीतों में मानवीय भावों की प्रचुरता है। हृदय से निकली हुई गीतों में जीवन की सच्ची झलक, भाई-बहन की विरह गाथा, युगल प्रेमियों के मिलन-विरह किसनों की गरीबी आदि अनेक भाव इन गीतों में व्यक्त होते हैं।

1.7.1.3 देशकाल पात्र और घटनाओं के अनुरूप कथा विकास:- आदिकालीन आदिवासी साहित्य में लोककथा, लोकगाथा, किंवदंतियाँ तथा मिथक कथाएँ आदि सभी देश-काल-क्रमानुसार हैं।

1.7.1.4 जादु एवं जादू शक्तियों का महत्व:- आदिवासी जादुई शक्तियों पर विश्वास करता है तथा उनमें तंत्र-मंत्र का चलन है। जादू-टोना एवं तन्त्र-मंत्र जानने वाले, गुनियाओं, ओझाओं, पेड़ों के तीन गुण के रूप में इनमें चित्रित हैं।

1.7.1.5 पशु-पक्षी द्वारा संदेश भेजना: आदिकाल में लोककथाओं में प्रमुख रूप से एक-दूसरे को संदेश भिजवाने के लिए पशु या पक्षी का सहारा लिया जाता है।

इस काल के साहित्य को मौखिक साहित्य या लोक साहित्य कहने के साथ पुरखा साहित्य भी कहते हैं। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि...“ आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्व है और मौखिक परंपरा में मिलनेवाले गीत, कथाएं आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।”¹

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 47

1.7.2 मध्यकाल (1854 से 1945 तक)

1854 से 1945 तक का जो साहित्य है उसे 'खेखाड अवतार' का साहित्य कहा जाता है। इस काल में आदिवासी भाषा संथाली को लिखित रूप दिया गया। मध्यकाल में सबसे अधिक विदेशी मिशनरियों का प्रादुर्भाव रहा। जिसके माध्यम से आदिवासी लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों मुहावरों आदि का संकलन और प्रकाशन कार्य किया गया।

हिन्दी की तरह विदेशी मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए आदिवासी भाषा का ज्ञान लेना या उस भाषा को सीखना आवश्यक मानते थे। इसको ध्यान में रखते हुए आदिवासी भाषा का व्याकरण और शब्दकोश का निर्माण किया। धर्म परिवर्तन भी इनका लक्ष्य था। मध्ययुग में विदेशी मिशनरियों का प्रभाव था। मध्ययुग में विदेशी मिशनरियों का प्रभाव अधिक मात्रा में था। रिच. पाऊप आलोक बोडिंग साहब ने आदिवासी भाषा संथाली के विकास के लिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ईसाई मिशनरियों ने धर्म के प्रचार-प्रसार करने के लिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ईसाई मिशनरियों ने धर्म के प्रचार-प्रसार करने के लिए सन् 1890 ई. में 'पेड़ तथा होड़ होपोन?', 'रेन पेज़' नामक दो पत्रिकाएँ संपादित कीं। इसमें ईसाईयों से संबंधित गीत, भजन आदि संथाली और मुंडा भाषा में अनुदित किया। इसके अलावा 'एक संथाली डिक्शनरी' 'संथाली अंग्रेज़ी शब्दकोश', 'मटेरियल पोर संथाली ग्रामर' आदि पुस्तकें रोमन लिपि एवं

अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से प्रकाशित की गई। इसके साथ री.सी.एच बोम्पास ने सन् 1909 ई. में 'फोकलोर ऑफ दि संधाल परगना' पुस्तक का प्रकाशन किया जिसमें कुल मिलाकर 185 लोक कहानियाँ संग्रहित हैं।

इस प्रकार देखे तो प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन साहित्य आगे की ओर रफ्तार में चल रहा था। इसी काल में अनेक प्रकार के संगठन और आन्दोलन हुए हैं।

संथाली साहित्य के साथ-साथ मुंडारी साहित्य के विकास को ऊँचा उठाने का प्रयास भी विदेशी मिशनरियों ने किया। संथाली, मुंडारी, हलवी आदि आदिवासी साहित्य का लेखन मध्यकाल में ही आरंभ हुआ। इस प्रकार आदिकाल की अपेक्षा मध्यकाल को आदिवासी साहित्य के लिए स्वर्ण युग मानना चाहिए। क्योंकि इस काल में विविध संगठनों द्वारा, विदेशी मिशनरियों द्वारा आदिवासी चेतना को जगाने का और आदिवासी बोली तथा भाषा को साहित्य में स्थान देने का महत्वपूर्ण कार्य हुआ। सन् 1931 में ईसाई मिशनरियों के कारण साहित्य को एक नयी दिशा मिली। जिसके माध्यम से कविता, कहानी, व्याकरण, निबन्ध आदि विधाओं में साहित्य का प्रारंभ हुआ।

1.7.3 आधुनिककाल सन् 1945 ई. से

आधुनिक काल आदिवासी साहित्य का तीसरा युग है। बस युग में गीत, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं में लेखक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था।

1.7.3.1 आदिवासी काव्य साहित्य

सन् 1951 में 'एबेन आडाड़-जागरण आवाज' काव्य पुस्तक का प्रकाशन करके स्वतन्त्रता का महत्व बताया गया। देवनागरी, बंगला ओडिया तथा रोमन लिपी में अनेक रचनाएं लिखी गयी थी। जैसे प्रो. इन्द्रजीत उरौप की 'डालटेनगंज' 'कुइख खी ही' लयबुड़ा, कुक्की, ग्रेस हुजूर की कविताएँ, 'नारायम सोरेन' की 'उफादिया', 'उरनी सेंगल', 'बरवी पुराण', 'कार्यकटी' आदि। नुअसकेरकेट्ट का 'खण्डकाव्य हेड़प भवकडिड बेह' खाड़िया कविताएँ, पोग्र फर्नाडीस की 'मूइयेपोदा' तथा भुजंग मेश्राम का 'उलगुलान' कविता संग्रह जैसी रचनाएँ इस युग की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

1.7.3.2 नाटक

इस युग में अनेक रचनाकारों ने नाटकों की नीर्मिति की है, जिसमें रघुनाथ मुमू का खेखाड़ बीड, औंखाडेगे धोन, कालीरम सोरेन का सिद्धो-कान्त, कृष्णचन्द्र टुटू का नाटक 'जुटी खातीर' किरिन-सिदरू, 'बोगला सोरेन का सोसनो' तथा एरावा: आईदारी, बाडेदारे, रोमझोल, बानिज बहू, चेत रे चिकायेना आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई। इन नाटकों में सामाजिक दायित्व का महत्व अधिक है। समाज को सजग कराने का प्रयास किया गया। आधुनिक नाटककारों ने अधिकतर सामाजिक ऐतिहासिक और राजनीतिक नाटकों की रचना की है लेकिन रंगमंच नहीं था। फिर भी नाटकों के ज़रिए विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करके साहित्य को गतिशीलता प्रदान करने में वे संक्षम निकले।

1.7.3.3 उपन्यास साहित्य

बिरसा मुंडा के नेतृत्व में आदिवासियों के स्वतंत्रता संग्राम की भूमिका पर आधारित उपन्यास लिखे गये थे। स्वतंत्रता मिलने के बाद आदिवासी संथाली और मुंडा लेखकों ने कई उपन्यास लिखे। सन् 1956 ई. आदिवासी उपन्यास साहित्य का एक महत्वपूर्ण बिन्दु है। क्योंकि इसी वर्ष में आर. आर. किस्कू. राबाज ने 'हाडमावा आतु' उपन्यास को प्रकाशित किया। उसके प्रकाशन के बाद अनेक लेखकों ने राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। नुनकू सोरेन लिखित 'महिला चेतन बाई' सन् 1975 में सी. मुरमू लिखित 'भारनडो' तथा चन्द्रमोहन द्वारा 'मानूमाती' और कृष्णचन्द्र हेम्ब्रस द्वारा लिखित 'तोपा: तोनोल' भोगी सोरेन द्वारा लिखित उपोल, भागवत मूरमू ठाकूर द्वारा लिखित 'बारनबेडा' दिवेन्द्र टुइ लिखित 'संथाल परगना रेन दोपोन एरा, तुफून घाट, 'जिवी जियाड, झारना' माया झाली आदि। मलयालम में नारायण लिखित कोच्चरेत्ती, ऊरालिकुडी, उपन्यास हिन्दी में पीटर पाल एक्का के सोन पहाड़ी, मौनघाटी, जंगल के गीत, वाल्टर भेंगरा तरुण का 'शाम की सूबह, गैंग लीडर, शंकर लाल मीणा का 'अघोषित' आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं।

इन उपन्यासों में बिरसा के नेतृत्व में हुए उलगुलान के संदर्भ तथा आदिवासी समाज की रूढ़ियों प्रथाओं और अंधविश्वासों का चित्रण किया गया है।

1.7.3.4 कहानी साहित्य

आदिवासी कहानी साहित्य की शुरुआत सन् 1942 ई. में हुई। 'मारसाल' नामक पत्रिका में प्रथम आदिवासी कहानी चुनकुराम टुडू द्वारा लिखी गई 'उलचाकती' प्रकाशित हुई। इस के बाद अन्य आदिवासी कहानियाँ विभिन्न पत्रिकाओं में तथा पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई। सन् 1975 में निरबल भी सोरेन द्वारा संपादित 'गाथाव माला' का प्रकाशन हुआ। सन् 1978 में डोमन साहू संपादित 'मायाजाल' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इनके बाद अनेक कहानी पुस्तकों का प्रकाशन इस कलावधि में हुआ।

वर्तमान समय में अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग लेखकों ने कहानियाँ लिखीं हैं। प्यार केरकेट्टा की 'गोल्ड और बेरथअ बिहा' नामक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। पीटर पॉल एक्का की कहानी 'खुला आसमान बंद दिशाएँ', 'परती ज़मीन', 'मंजू ज्योत्सना' की 'जह-गयी-ज़मीन' वाल्टर भेंगरा की कहानी 'लौटती रेखाएँ' जंगल की ललकार' संकर लाल मीणा की 'आखिर कब तक' आदि कहानियाँ वर्तमान आदिवासी जीवन का दस्तावेज़ हैं।

इन कहानिकारों के अतिरिक्त और भी कहानिकार हैं जिन्होंने विभिन्न पत्रिकाओं और पुस्तकों में कहानियाँ प्रकाशित की हैं। जैसे वाल्टर भेंगरा तरुण की कहानी 'खकरा' रोज केरकेट्टा की 'भवंर' पीटर पॉल एक्का की कहानी 'राजकुमारों के देशों में, डॉ. मंजू ज्योत्सना 'प्रायश्चित' शंकरलाल

मीणा की कहानी 'कहानी के बाहर की औरत', रामधन लाल मीणा की 'अप्रत्याशित' आदि कहानियों में आदिवासियों के मन को छूने का प्रयास किया है।

इस प्रकार देखे तो आज के संदर्भ में आदिवासियों के जीवन की प्रत्येक समस्याओं को पकड़ जाने और तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने में आदिवासी कहानियाँ संक्षम है।

1.7.3.5 निबंध और अन्य रचनाएँ

जिस तरह काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक लिखे गये उसके साथ ही निबन्ध का लेखन भी आदिवासी साहित्य में देखा जा सकता है। आदिवासी समाज में पैदा हुई नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना को लेखकों ने लेख, आलेख, जीवनी, निबन्ध आदि के रूप में प्रकाशित किया। इन लेखों के माध्यम से समाज-सुधार-शिक्षा-प्रचार-प्रसार तथा राजनीतिक गतिविधियों को महत्व दिया गया है।

मुचिराय मुंडा ने सन् 1951 ई. में बिरसा भगवान शीर्षक से बिरसा की प्रथम जीवनी लिखी। इसमें अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय इतिहास के संदर्भ में बिरसा और उनके आन्दोलन का चित्रण है। सन् 1957 ई. में आँदी फ्रीडम मूवमेन्ट ऑफ बिहार और 1958 में 'बिहार थ्रू एजेस' का प्रकाशन हुआ। इन पुस्तकों में बिहार में अंग्रेजों के विरुद्ध किए गए आन्दोलनों को फ्रीडम मूवमेन्ट के साथ जोड़ने की कोशिश देख सकते हैं। सन् 1962 में

प्रकाशित हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार' का प्रकाशन हुआ। आदिवासियों पर हो रहे अन्याय, अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध आक्रोश है इन रचनाओं में। सन् 1977 में बाबूलाल मुरमू की 'संथाली ओनोल' तथा आपनास्त आरी बांदी' और रामी टुडू लिखित 'खेलाल सँखता आरी चाली' चुडां सोरेन की 'तिरियो बाढोपो', दमन हाँसदा की रोमणोम पाता माई' एवं सिद्धो-कान्टू-हूस' का प्रकाशन हुआ।

इन ग्रंथों के साथ ही साथ व्याकरण शब्दकोश भी आदिवासी साहित्य में पाये जाते हैं। 1951 में 'संतावली शब्दकोश', प्रकाशित हुआ। 'सांवताली भाषा लिपि समस्या', 'संताली व्याकरण' मुंडारी भाषा', 'कुदुम मुराई', आद पारसी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इनमें से अधिकतर हिन्दी भाषा के माध्यम से देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुई हैं।

इस प्रकार देखे तो पता चलता है कि आदिवासी साहित्य अन्य किसी भी साहित्य के प्रतिकूल नहीं है। बल्कि वह तो स्वतंत्र, स्वयंभू, एवं स्वयं सिद्ध है। इनकी प्रेरणा स्रोत जो है उसके अस्तित्व के समान ही प्राचीन तथा पृथक है।

1.7.4 समकालीन आदिवासी साहित्य

समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत उदारवाद, बाज़रवाद और भूमंडलीकरण के उभार से मानी जाती है। जब एक समुदाय साक्षर होता है सजग होता है। तब वह कई तरीके से अपने ऊपर होनेवाली कई समस्याओं

के बारे में सोचना आरंभ करता है। आदिवासी समाज भी वर्तमान समय में अपने ऊपर होनेवाली विविध मुखी समस्याओं के प्रति सजग है। यह सजगता का परिणाम है समकालीन आदिवासी साहित्य।

आज इनमें चेतना जगी है। वह नई-नई विचारधाराओं और क्रान्तियों से परिचित है। जिसके परिप्रेक्ष्य में वह अपनी पुरानी और नई स्थितियों को मापने लगा है। उसमें अपने होने न होने, अपने अस्तित्व की वर्तमान स्थिति, अपने साथ हुए भेदभाव व अन्याय का बोध भी जगा है। यही बोध उसकी समकालीन रचनाओं में झलक रहा है। विशेषकर समकालीन हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में ।

भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया को तेज कर दी। क्योंकि आजाद भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ शहरीकरण औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी विकसित हुई। इसके बाद संचार क्रान्ति, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की नीतियाँ आदि ने समाज में अपना वर्चस्व स्थापित किया। भूमंडलीकरण की इस वैश्विक अवधारणा को देश के विकास के नाम पर स्वीकार किया। लेकिन इससे गरीबों की गरीबी तो बढ़ा गयी और आम जनता का अस्तित्व खतरे में पहुँच गया। भूमंडलीकरण और निजीकरण के इस खतरे को ध्यान में रखते हुए रमणिका गुप्ता ने जो कहा वह बिलकुल महत्वपूर्ण है कि 'निजीकरण ने बाज़ारवाद को बढ़ाया है। आदिवासियों पर इसका दुष्प्रभाव पड़ा है।

निजीकरण से शिक्षा, दवाई आदि सभी चीजें महंगी हो गई है। इसकेलिए नौकरी के अवसर भी कम होते जा रहे हैं। भूमंडलीकरण की मुख्य समस्या है कि यह केवल पूंजी को देश से बाहर जाने देता है न कि श्रमिक वर्ग को।”¹

भूमंडलीकरण की वैश्विक अवधारणा में सर्वाधिक कष्ट भोगनेवाला समूह है आदिवासियों का। क्योंकि भूमंडलीकरण ने उनकी जीवन पद्धतियों जीवन मूल्यों, मान्यताओं तथा भाषा संस्कृतियों को विनाश की स्थिति में पहुँचा दिया। इसके बारे में मैनेजर पाण्डेय ने कहा, ‘जब राष्ट्र-राज्य और ग्लोबल गाँव के देवताओं का गठजोड़ हो जाता है तो वह विनाश को जन्म देता है। तथाकथित ग्लोबल गाँव के देवता (दानव कहना अधिक संगत होगा) आदिवासी बहुल क्षेत्रों की बू-सम्पदा, खनिज संपदा, प्राकृति एवं वन सम्पदा जल संसाधनों पर कब्जा हथिया कर आदिवासियों को पलायन करने पर मजबूर कर देता है। इन दानवों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वबैंक एवं विश्व व्यापार संगठन का सहारा लेकर वैश्विक बाज़रवाद के सहारे भारतीय सर्वहारा एवं आदिवासी का सर्वनाश ही किया है।”²

भूमंडलीकरण आर्थिक साम्राज्यवाद की एक ऐसी नीति है जो दुनिया को सिर्फ उत्पाद और उपभोक्ता के रूप में मानती है। आदिवासी समाज के संदर्भ में कहे तो बाज़ार में उनकी पहचान, समानता, भाईचारा व

-
1. सं. रजनी गुप्ता - आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य, से लेख बदलाव केलिए प्रतिबद्ध है आदिवासी साहित्य, पृ. 38
 2. वही

आज़ादी को चोट पहुँचाया। विकास के नाम पर इनकी पुश्तैनी धन्धे खत्म करने, रोज़गार के अवसर छीनने, तथा स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को नष्ट करने की प्रक्रिया चल रही है। इन सबके बीट अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए ही आदिवासियों ने कलम उठा लिया। एक क्रान्तिकारी बदलाव है आदिवासी साहित्य लेखन। अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए साहित्य लेख द्वारा प्रतिरोध व्यक्त करना वह चाहता है। 'आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिक्कों द्वारा किए गये और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है, जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, ज़मीन और जीवन को बचाने के हक में उनके, 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।'¹ इसका प्रभाव समकालीन साहित्यिक विधाओं में देखा जा सकता है, विशेषकर समकालीन आदिवासी उपन्यासों में।

मानव चेतना में और समाज में तरह-तरह के भौतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। इन्हें प्रस्तुत करने का श्रेष्ठतम माध्यम उपन्यास है।

समकालीन आदिवासी उपन्यासों में अपने समय के भोगे हुए यथार्थों का चित्रण हुआ है। आदिवासी अपनी अलग अस्मिता के लिए लिखते हैं। यह

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 42

उनका प्रतिरोध भी है। आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों में आदिवासी उपन्यासकारों की रचनाएँ शामिल हैं। उनमें प्रमुख हैं, 'सन्तोष प्रीतम' का पलाश का फूल (1985) पीटर पॉल एक्का का मौनघाटी (1982) दोनों मुण्डा आदिवासियों पर केन्द्रित है। संजीव का सावधान! नीचे आग है (1980), राकेश वत्स का जंगल के आस पास (1986), 1900 में संजीव का 'धार', मनमोहन पाठक का गगन घटा घहरानी (1991) शिवप्रसाद सिंह का शैलूश (1989) वीरेन्द्र जैन का 'डूब' और 'पार' (1994) विनोद कुमार का समरशेष है (1999) हरिराममीणा का धूणी तपे तीर (1008) संजीव का जंगल जहाँ शुरु होता है (2000) राकेश कुमार सिंह द्वारा दो उपन्यास लिखे है 'पठार पर कोहरा (2003) जहाँ खिले है रक्त पलश 92003) मधुकर सिंह का बाजद अनहद ढोल (1992) श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते है (2011) विनोद कुमार का रेड ज़ोन (2015) तेजिन्दर का काला पादरी (2002) मधुआ माजी की मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ (2012) अश्विनी कुमार पंकज का माटी माटी अरकाटी (2016) आदि।

ये उपन्यास सचमुच आदिवासी जीवन का सही दस्तावेज़ हैं। इनमें उनके जीवन के यथार्थों का बहुआयामी पहलुएँ अनावृत हुए हैं। उन पहलुओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन है आगामी अध्यायों में।

1.8 आदिवासी संघर्ष के इतिहास

आदिवासियों का जीवन संघर्षों और विद्रोहों से भरा हुआ है। क्योंकि

वे अनादिकाल से अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन ये संघर्ष मुख्य धारा साहित्य या इतिहास में देखने को नहीं मिलेगा। क्योंकि इतिहास हमेशा वरेण्य वर्ग का होता है न कि हाशिएकृत का। उन्होंने आर्यों के विरुद्ध, अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष किया था अब भूमंडलीकरण के विरुद्ध भी वे अपना प्रतिरोध जाहिर कर रहे हैं अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए।

ब्रिटिश शासक आदिवासी इलाकों में अपने पांव न जमा सकें, इस उद्देश्य को लेकर आदिवासियों ने अने युद्ध लड़े हैं। सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बहुत पूर्व ही इनके द्वारा लड़े गए युद्ध आरंभ हो चुके थे। इन युद्धों में अनेक आदिवासी नेताओं ने अविस्मरणीय वीरता का परिचय दिया था। उनमें से कुछ संघर्ष हैं।

1.8.1 संथाल परगना का विद्रोह (1784)

यह विद्रोह तिलका माँझी के नेतृत्व में किया गया था। संथाल परगना क्षेत्र में आदिवासी जनता शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उठ खड़ी हुई। तिलका माँझी राजाओं का खजाना लूटकर बिना किसी भेदभाव से आदिवासियों के बीच बांटा करता था। आदिवासी लोग उसे मुक्तिदाता समझते थे। तिलका माँझी ने अने क्षेत्र से गैर-आदिवासियों याने कि अंग्रेज़ों को भागाने की कोशिश की। 1784 में तिलका माँझी ने अपने सहयोगियों से मिलकर भागलपुर पर आक्रमण किया। उन्होंने अंग्रेज़ी

कप्तान क्लीवलैंड की छाती में तीर मार दिया। और उन्होंने समझाया कि अंग्रेज़ी सेना की हिम्मत टूट गई और वे लोग जश्न मनाने लगे। उसी समय रात में अंग्रेज़ी सेना ने 'आयरकूट' के नेतृत्व में आक्रमण किया। तिलका माँझी तो बच गया लेकिन उनके साथी गण गिरफ्तार हुए। बाद में सुलतानगंज की पहाड़ियों में शरण लेकर तिलका माँझी ने युद्ध चलाया। लेकिन अंत में धोखे से तिलका माँझी को गिरफ्तार कर बड़ी बेरहमी से एक बरगद के पेड़ पर फांसी पर लटका दिया गया।

1.8.2 हो विद्रोह 91820-21)

सन् 1820-21 में हो लोगों ने सिंहभूम क्षेत्रमें अनियमित लड़ाई की राजनीति अपनाई और अपनी रक्षा के लिए तथा ब्रिटिश और स्थानीय राजा ने अपने आपसी झगड़े में 'हो' लोगों को कठपुतली की तरह इस्तेमाल किया। वहाँ के राजा जगन्नाथ सिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी ने सरकार की रक्षा का वादा देते हुए एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। समझौते की प्रमुख बातें थीं - अंग्रेज़ी की मदद से विद्रोह जन जातीय लोगों की महत्वाकांक्षा का दमन कर उन्हें अपने अधीन लाना। इस का असर 'हो' लोगों के जीवन पर पड़ा। वे हिंसा पर तुले हुए थे। अंग्रेज़ों ने उनकी मदद के लिए मेजर रफसेज को भेजा। लेकिन उनकी चालों को 'हो' लोगों ने समझ लिया। रफसेज ने चाईबासा में अपना कैम्प गाड़ दिया। 'हो' लोगों ने अपने को बड़ी संख्या में एकत्रित किया और अंग्रेज़ी सेना पर तीर और धनुष से हमला किया। 1821

में हो लोगों ने पुखरिया और चैनपुर में अंग्रेजों को पराजित किया, इस पराजय के बाद अंग्रेजों ने कर्नल रिचर्ड्स के नेतृत्व में हो लोगों पर आक्रमण किया। लेकिन अंत में ब्रिटिशों की अधीनता स्वीकार करते हुए हो लोगों को उनसे समझौता करना पड़ा।

1.8.3 कोल विद्रोह (1831-32)

छोटानागपुर में 1831 के अंत में पहले के विद्रोहों से अधिक भयानक विद्रोह हुआ। मुण्डा एवं हो लोगों ने जमींदारों एवं दिकुओं के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह किया। अत्याचारी ज़मींदारों एवं दिकुओं के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह किया। अत्याचारी जमींदार थर-थर कांपने लगे। इतने भीषण विद्रोह के आगे अंग्रेज़ी शासक की काँपते लगी। इस विद्रोह को कोल विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

कोल विद्रोह का मूल कारण भूमि संबंधी असन्तोष था। ओर एक कारण था दिकुओं द्वारा आदिवासियों के प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार। दिकुओं ने आदिवासी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया। अपमानित एवं उत्पीड़ित आदिवासी लोगों ने 'लंका' नामक गाँव में हज़ारों आदिवासियों की सभा बुलाई और अपने अपमान का बदला लेने के लिए संकल्प लिया। कोल विद्रोह के प्रमुख नेता बिन्दराम मानकी था।

कोल विद्रोह के परिणाम स्वरूप 1833 के रेगुलेशन 13 के तहत

अनेक प्रशासनिक परिवर्तन हुए । ईस्ट इंडिया कंपनी के अप्रत्यक्ष शासन का अन्त हुआ तथा अलगाववादी नीति का आरंभ हुआ ।

1.8.4 संथाल विद्रोह (1855-57)

झारखंड के आदिवासी सदियों से बिलकुल अलग भौगोलिक स्थितियों में रहे थे। मुख्यधारा समाज से अलग होकर। वे अपने परंपरागत जीवनशैली में ही जीना चाहते थे लेकिन ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियों को भी औपनिवेशिक घेरे में घसीट लिया। भूमि के हस्तांतरणों, साहूकारों के आर्थिक शोषणों एवं सामाजिक जीवन में हो रहे परिवर्तनों से उनको अपनी संस्कृति और आर्थिक स्थिति के विनाश की संभावना नज़र आने लगी। अतः उनके विरुद्ध आदिवासी विद्रोह करने लगे। इन्हीं विद्रोहों में एक विद्रोह है संथाल विद्रोह।

संथालों के बीच के असंतोष को विद्रोह के रूप में परिवर्तित करने का श्रेय सिद्ध और कान्हू नामक दो संथाल भाइयों को है। जून 1855 में भगनाडीह नामक स्थान पर संथालों की एक विशाल जनसभा हुई जिनमें अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की गई। सिद्ध और कान्हू की घोषणा के बाद युद्ध प्रारंभ हुआ। एक महीने में ही इसका भयंकर रूप सामने आने लगा।

संथालों ने सर्वप्रथम ऐसे लोगों पर आक्रमण किया जिन्होंने धोखे से

धन-वेभव एकत्र किया था। सिद्धू-कान्हू द्वारा संचालित एक संथाल विद्रोह का परिणाम यह निकला कि विद्रोह का कुचले दिए जाने के बाद संथाल लोगों के कष्टों एवं दुर्दशाओं की सरकारी जाँच शुरू हुई।

1.8.5 मुंडा विद्रोह (बिरसा का उलगुलान)

झालखंड का सबसे प्रमुख आदिवासी आंदोलन 1895-1900 का बिरसा मुंडा आंदोलन था जो पुनर्जागरणवाद, राजनीतिक कार्यवाही और एक आदर्श राज्य की खोज का मिश्रण था। बिरसा ने अपने लोगों को धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर सुधारने का प्रयत्न किया।

उलगुलान नाम से विख्यात मुंडा विद्रोह आदिवासियों के आक्रोश का उत्कृष्ट उदाहरण है। 11 वीं शताब्दी के आरंभ तक मुंडा लोग अपने पारंपरिक, सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे में शांतिपूर्ण जीवनयापन करते आए थे। औपनिवेशिक हस्तक्षेप गैर जनजाति घुसपैठ तथा उनकी असामाजिक नीतियों ने मुंडा लोगों के जीवन में प्रतिकूल प्रभाव डाला। मुंडारी व्यवस्था में परिवर्तन के विरुद्ध होनेवाली विद्रोह में बिरसा के धार्मिक-राजनीतिक आन्दोलन का चरमोत्कर्षता मिली।

बिरसा ने 1895 में आन्दोलन की शुरुआत की। उन्होंने अपने साथी लोगों को न डरने तथा साहस की अनिवार्यता को समझाने का प्रयास किया। 1895 में बिरसा को सोए में गिरफ्तार कर लिया गया। 1897 को महारानी

विक्टोरिया के हीरक जयंती के उपलक्ष्य में कैस से मुक्ति मिली । 1899 में डोम्बाड़ी पहाड़ों से बिरसा के अनुयायियों ने तीर-धनुष और परंपरागत हथियारों से सरकार के विरुद्ध भीषण हमला किया। 3 फरवरी 1900 को सिंह भूम में बिरसा को बन्दी बना लिया। 3 जून 1900 को रांची जेल में मुकदमे के दौरान ही पच्चीस वर्ष की आयु में महानायक की मृत्यु हो गई।

बिरसा मुंडा आदिवासियों के लिए एक पृथक समाज तथा अर्थव्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे, जो उनकी परंपरागत व्यवस्था पर आधारित हो।

कहने का मतलब यह हुआ कि भारत में औपनिवेशिक शासन स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेजों द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई उनका आदिवासियों पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा, उनका समूचा अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया था। इस संदर्भ में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए किए गए सभी विद्रोह उनकी धीरता, कर्मठता एवं अस्मिता बोध के निशान हैं।

निष्कर्ष

देश के मूलनिवासी होने के नाते औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, ज़मीन और प्रकृति के संसाधनों पर उनका अधिकार था। लेकिन जब साम्राज्यवादी ताकतें और औपनिवेशिक सत्ताएँ जब मज़बूत होती गयी तब से आदिवासियों का शोषण और अत्याचार बढ़ने लगे। अपनी स्वायत्ता और अस्मिता के लिए जितने व्यापक पैमाने पर

इन लोगों ने विद्रोह किया। उतना देश के किसी अन्य तबके ने नहीं किया हो।

लगातार शोषण और विस्थापन के शिकार होने के कारण इन समुदाय में आक्रोश और विद्रोह का भाव तीव्र होने लगा। जौसे-जैसे शिक्षा का प्रचार-प्रसार और नागरी परिवेश से परिचय बढ़ने लगा उसे अपने मूल्य और अस्तित्व का एहसास होने लगा। उसने अपनी आत्म पहचान को सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। आदिवासी विमर्श इसका परिणाम है। यह एक विमर्श है जिसमें इस समुदाय की परंपरा, रूढ़ियाँ, संस्कृति, न्याय-अन्याय, मान-अपमान, शोषण सब कुछ का बयान हुआ है।



दूसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी
उपन्यासों में आदिवासियों
का सामाजिक एवं
आर्थिक पक्ष

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष

2.1 साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का संबन्ध अटूट है। 'समाज के मन को संस्कारित करने का बहुत बड़ा सामर्थ्य साहित्य में है। सामाजिक जीवन को सँवारने, प्रेरणा देने की ही नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति लाने का सामर्थ्य भी साहित्य में है। साहित्य नव-समाज-निर्माण के लिए क्रान्ति ला सकता है।'¹ आदिवासी साहित्य भी आदिवासी समाज की बहुरूपी समस्याओं को लेकर आगे बढ़ते हैं। आदिवासी साहित्य के माध्यम से देश-विदेश के आदिवासी समाज की भावनाओं को समझने और समझाने का कार्य भी हो सकता है। क्योंकि 'आदिवासियों के साहित्य का मुख्य स्रोत उनका इतिहास, प्रकृति से साहचर्य और उनकी सांस्कृतिक परंपरा में निहित है। इसलिए आदिवासी साहित्य सिर्फ किसी व्यक्ति विशेष की रचना ही नहीं, अपितु आदिवासियों के सामाजिक और सामुदायिक अनुभव जनित साहित्य है।'²

साहित्य में आदिवासी समाज और उनका जीवन अब तक उपेक्षित थे। लेकिन आज आदिवासियों में चेतना जगी है। जो आज तक अनबोल रहे हैं, वे अब खुद बोलने लगे हैं। अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों एवं अत्याचारों के खिलाफ संगठित होकर वे आवाज़ उठा रहे हैं। उसका परिणाम है आदिवासी साहित्य।

-
1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 28
 2. कुमार कमलेश्वर - आदिवासी विमर्श पृ. 104

2.2 आदिवासी समाज

आदिवासी समाज समानता की समाज है। उनकी जीवन शैली मनुष्य प्रकृति तथा जीव-जंतुओं का साथ-साथ जीना हैं। आदिवासी युग युगों से जंगलों में रहते हैं और जंगलों के संसाधनों से ही अपना जीवन यापन करते हैं। लेकिन पहले से ही आदिवासी समाज में बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप होता रहा है। याने कि आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है, जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष करता आ रहा है। बाहरी हस्तक्षेप ने आदिवासी समाज में ही नहीं उनके जीवन में भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है।

किसी भी समाज को समझने के लिए उसके संपूर्ण ढाँचे का अवलोकन करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से देखे तो आदिवासी समाज में बाहरी हस्तक्षेप की समस्या पौराणिक काल से ही वर्तमान है।

पौराणिक काल में आदिवासियों को असुर, दानव, राक्षस आदि नामों से संबोधित करते हुए उन्हें अपने आवास स्थान जंगलों से बाहर निकाल दिया जाता था। उसके अस्तित्व को मिटाने की वृत्ति पुराण और इतिहास ग्रंथों में भी देख सकते हैं। ब्रिटिश काल में अंग्रेजों द्वारा आदिवासियों के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। आदिवासी लेखक प्रभाकर तीर्की ने कहा 'अंग्रेजों ने एक के बाद एक भूमि संबन्धी कानून बनाए, जिसके परिणाम

स्वरूप आदिवासियों की भूमि से पारंपरिक अधिकार छीनने की प्रक्रिया शुरू हो गई। अंग्रेजों ने न सिर्फ प्रतिवर्ष लगान बढ़ाया बल्कि इसे निर्दयतापूर्वक बसुला भी, जिसे आदिवासियों ने सामंतवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नाम दिया।¹ अंग्रेजों ने आदिवासियों से न केवल लगान वसूल किया बल्कि उनके क्षेत्रों से कच्चे माल को भी बटोर लिया अपने उद्योगों के विकास के लिए। स्वतंत्रता के बाद भारतीय शासकों ने बाहरी उपनिवेशवाद से ही प्रभावित होकर औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को जारी रखा जिसकी शुरुआत अंग्रेजों ने किया था।

आदिवासी समाज के लिए जीवन का सब कुछ जंगल है। लेकिन दो दशक पहले भारत सरकार द्वारा अपनाई गई उदारवादी आर्थिक नीतियों ने विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी निवेश का रास्ता खोल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ था कि देशी-विदेशी कंपनियों द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों याने के जंगली इलाकों का अंधाधूंध दोहन शुरू हुआ। हज़ारों बरसों से देश के मूलनिवासी आदिवासियों के निवास स्थान जंगल, नदियाँ, पहाड़ आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए मुनाफा कमाने के केन्द्र के रूप में बदल गए।

नई आर्थिक नीतियों के बाद शुरू हुए विकास के रफ्तार में सबसे ज़्यादा नुकसान आदिवासियों को झेलना पड़ा। उनकी सबसे बड़ी समस्या अपने 'अस्तित्व' संबन्धित है। उनका अस्तित्व जल, जंगल, और ज़मीन से

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी विकास से विस्थापन, पृ. 42

जुड़ा हुआ है। इन तीनों की अनुपस्थिति में अपनी पहचान ही खत्म हो जाती है। नई आर्थिक नीति ने देश के संपूर्ण आदिवासियों की पहचान को ही मिटा दिया। यह उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकट का कारण बन गया। रमणिका गुप्ता ने इस पर ज़ोर देकर यों कहा था, ‘आदिवासियों की अस्मिता के प्रश्न उनके जंगल, ज़मीन, जल और प्राकृतिक संसाधनों के अधिकारों से जुड़े हैं और इनके अस्तित्व के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं, उनकी भाषा, संस्कृति, सामूहिक जीवन, शैली, परंपरा, रीति-रिवाज़ और उनकी अपनी स्तरीय जनतांत्रिक न्याय व्यवस्था।’¹

आदिवासी समाज की माँगें सामूहिक होती हैं। वह विकास विरोधी नहीं है। लेकिन विकास उस तरीके से किया जाना चाहिए जो उनके जीवन और प्रकृति के अनुकूल हो। विकास के नाम पर आज पहाड़ों को काटा जा रहा है। जंगलों को उजाड़ा जा रहा है। बड़े-बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं। कहीं खनन कार्य किया जा रहा है। याने कि हर तरफ से आदिवासी समाज को जंगलों, नदियों, पहाड़ों से घिरे अपने परिवेश से बेदखल करनेवाले विकास ज़ारी हैं।

आदिवासी सामूहिक ज़िन्दगी जीता है। वह व्यक्तिवादी नहीं है। वे सहयोगपूर्वक जीना चाहते हैं। रमणिका गुप्ता कहती है कि हमें उनसे बहुत कुछ सीखनी है, ‘प्रकृति के साथ जीना सीखना है, मनुष्य के साथ मिलकर

1. दीपक कुमार देवेन्द्र - हाशिए का वृत्तांत, पृ. 354

भाईचारे से जीना सीखना है। हमें उनसे सीखनी है - मनुष्य की अभिव्यक्ति की आज़ादी, बराबरी की भावना और बेफिक्र होकर जीना। हमें सीखना है संपत्ति का संग्रहण न करना, धन न जुटाने की आदत अपनाना। दूसरों के लिए समाज के लिए जीने का सूत्र जानना है उनसे। ये सारे मूल्य उनमें हैं, जिन्हें हम अपनी व्यक्तिवादी संकीर्ण संस्कृति से नष्ट कर रहे हैं।”¹

वर्तमान समय में सबसे उपेक्षित तबका आदिवासी है। आज वह अस्मिता और अस्तित्व की दोहरी चुनौतियों से जूझ रही है। विकास के नाम पर होनेवाले हस्तक्षेपों के कारण आदिवासी इलाकों में भी उनका टिकना मुश्किल हो रहा है, ‘जन संख्या के हिसाब से लगभग 8.08 प्रतिशत लोगों को जनजाति के वर्ग के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जिनमें से लगभग नब्बे प्रतिशत आदिवासी अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर हैं। इसके अलावा शिकार वनोपज जमा करना भी उनके जीवन का मूल आधार है।”² जैसे-जैसे आदिवासियों से उनके वन और पूर्वजों की ज़मीन छीनी जा रही है वैसे वैसे उनके आधारभूत कार्यकलापों में कमी आती रही। औद्योगीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन के रूप में सरकार ने आदिवासी क्षेत्र का चयन किया। क्योंकि इनकी भूमि में सभी प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों की लभ्यता है। जिन नदियों और ज़मीनों पर उनका मुक्त संचार था आज वह अवरुद्ध हो रहा है। उस पर उनका कोई अधिकार नहीं है।

1. सं. उषा कीर्ति राणावत - आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य, पृ. 32

2. डॉ. शेख शहेनाज बेगम अहेमद - आदिवासी साहित्य स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ. 178

मानव समाज का विकास के पथ पर है। लेकिन आदिवासी समाज में विकास के नामो निशान भी नहीं है। उन्हें याचक बनाकर जंगल से विस्थापित कर दिया जा रहा है। देश के आदिवासियों की समस्याओं को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है सामाजिक और आर्थिक। आदिवासी समाज में शिक्षा का आविर्भाव बहुत देर से ही हुई थी। शिक्षा किसी भी समाज के लिए सृजनात्मक एवं उत्प्रेरक तत्व है। शिक्षा की कमी के कारण कोई भी समाज अंधकार में टटोलने के लिए अभिशप्त बन जाता है।

2.3 आदिवासी समाज और आर्थिक पक्ष

जंगल आदिवासी समाज का एक मात्र सफल धरोहर है। वनों की सुरक्षा से इनकी अर्थ व्यवस्था को गति मिलती है। लेकिन आज देश में खनन, उत्खनन और औद्योगिक विकास के लिए जंगलों को उजाड़ा जा रहा है। इससे आदिवासियों की अर्थव्यवस्था का हास हुई और वे शहरों की तरफ पलायन करने के लिए विवश हो गए। उनके पारिवारिक जीवन में कलह, अस्वास्थ्य, गरीबी तथा कुपोषण का ताण्डव होने लगा।

आदिवासियों के आर्थिक विकास के लिए सरकार ने अनेक विकास योजनाएँ लागू भी की हैं। परंतु उन्हें इन विकास योजनाओं का सीधा लाभ प्राप्त नहीं होता। आर्थिक स्तर को सुदृढ़ बनाने के लिए सरकार ने अनेक

उद्योग धन्धों लगाये हैं। सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान किया। लेकिन इन सबके बावजूद भ्रष्ट शासन व्यवस्था और नियमों के कारण आदिवासी इन लाभों से वंचित रहते हैं। देश के सभी क्षेत्रों में विकास होने के बावजूद देश के आदिवासी लोग अर्थोपार्जन के लिए उतना ही संघर्ष करते हैं जितना कि वे पहले करते थे।

भारत सरकार जनजातीय समाज की आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए विविध योजनाओं का संचालन कर रही है। इन योजनाओं के अन्तर्गत शिक्षा, गृहोद्योग, कृषि, पुनर्वास, जंगल-संरक्षण, पशुविभाग, कम्युनिटी सेन्टर, गैर सरकारी संस्थाओं की सहायता आदि करती आ रही है। लेकिन इन सारे योजनाओं का फल आदिवासियों तक पहुँचता नहीं बीच में ही वे सब हटप लिया जा रहा है। मोटे तौर पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से जूझनेवाले आदिवासी समाज की समस्याओं को समकालीन आदिवासी साहित्य में देख सकते हैं। आदिवासी समाज के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि वह अपनी समझ और संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करें। एक ओर प्रगति विरोधी परंपराएँ हैं, तो दूसरी ओर अति आधुनिकता का विकृत प्रभाव। इन दोनों के बीच का आत्मसंघर्ष आदिवासी समाज में सब कहीं है। आदिम संस्कार के साथ पली-बढ़ी जीवन शैली एक ओर है तो दूसरी ओर विकास की रफ्तार में सब कुछ खो कर आगे बढ़ने के लिए विवश युवापीढ़ि।

इस प्रकार अपने अस्तित्व पर होनेवाले खतरों को समकालीन आदिवासी उपन्यासकार कैसे रेखांकित करते हैं यह देखना महत्वपूर्ण है।

मनमोहन पाठक द्वारा लिखा गया उपन्यास है 'गगन घटा घहरानी'। उपन्यास की प्रेरणा भूमि पलामू और उसके आस-पास के वे तमाम क्षेत्र हैं जहाँ आदिवासी लोग, ग्रामीण लोग या सदान भी है। सामंती अवशेषों के लक्षणों से युक्त ठेकेदार की गिरफ्त में है यहाँ की 'उरांव' आदिवासी और सदान भी। उपन्यास के लेखक मनमोहन पाठक भूमिका में लिखते हैं - "मेरे इस उपन्यास की प्रेरणा भूमि पलामू और उसके आस-पास के वे तमाम क्षेत्र हैं जहाँ एक लंबे समय से आज़ादी की लड़ाई चल रही है। इस लड़ाई का इतिहास मुगलकाल से आरंभ होकर ब्रिटिश गुलामी को पार करता हुआ भारत की 45 साल की स्वतंत्रता तक खिंचा चला आया है।"¹

जल, जंगल और ज़मीन के लिए आदिवासी समाज किस तरह से संघर्ष करते हैं इसको बखूबी उपन्यास में बताया गया है। जंगलों में रहने वाले और जंगल से ही जीवन यापन की सुविधाएं जुटाने वाले आदिवासियों को जब जंगल से वंचित करने की कोशिश हुई तो उनके समने बड़ी ही भयंकर स्थिति उत्पन्न हुई। खेती करनेवाले थोड़ी बहुत ज़मीन भी वह साहूकार या रायबहादूर जगधारी राय जैसे जमींदारों के कब्जे में जा चुकी थी। बढ़ते कर्ज से छुटकारा पाने के लिए वे जी तोड़ परिश्रम करते हैं लेकिन

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 5

पीढ़ियाँ बीत जाने के बाद भी कर्ज चुका नहीं पाते। इसके साथ शोषण भी बढ़ता जाता। शोषण का भीषण रूप यह है कि कर्ज के ऐवज में मज़दूर और दास की ज़िन्दगी बिताने वाला उरांव आदिवासी 'जागो' बीमार पड़ जाने के कारण समय से मालिक की सेवा में नहीं पहुँचता तो जबरदस्ती मारपीट कर, बंधवा कर 'चीते' के अहाते में सामंत जगधरी राय ने डलवा दिया। उपन्यास में ठाकुर की हवेली से जागो को छुटकारा पाना बिलकुल असंभव था। वह अपने आप को कोसता है और याद करता है कि 'बलि को जाता हुआ बकरा भी मिमियाता है पर मेरे मुँह से तो एक बकार नहीं फूटा। उस समय मेरे मुँह से तो एक बकार नहीं फूटा। उस समय मेरे पास बोलने को भी क्या था? देह तो मैं पहले भी हार चुका था। सत्तर रुपया और दू मन गोंदली पर। मेरी देह पर उधार बाकी जो कुछ था वही तो उतार रहे थे वे लोग। काल के मुँह में डालकर, भड़ास से दरवाज़ा बन्द कर दिया। काहे.?...।"¹ यहाँ आर्थिक विपन्नता के कारण पूरी ज़िन्दगी गुलम का जीवन जीने के लिए अभिशप्त आदिवासी लोगों की हालत का चित्र देख सकते हैं।

वीरेन्द्र जैन का 'डूब' उपन्यास में लड़ैई आदिवासी गाँव का चित्रण किया गया है, जहाँ आदिवासियों की ज़मीन पर बांध बनाया गया है। जिससे राउत तथा खेरे जिरोम गोत्र के कई आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इसी बांध के टूटने से आस-पास के कई गाँवों का जीवन प्रभावित होता है।

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 72

उपन्यास की कथावस्तु प्रमुख रूप से डूब की समस्या है इसके साथ ही साथ आदिवासी जीवन के कई सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक सवाल भी प्रस्तुत हैं।

वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'पार' में बुन्देलखण्ड अंचल के आदिवासी जीवन को वरीयता देते हुए ज़मीन, जंगल और शिक्षा से वंचित आदिवासियों के संघर्ष की कथा प्रस्तुत की गयी है। 'पार' में 'डूब' के आगे की कथा है। 'पार' में आदिवासी राउतों पर होने वाले शोषण की कहानी है।

बाँध के निर्माण के लिए ली गई ज़मीन ज़्यादातर खेती थी। इसका बहुत बुरा असर आदिवासी जन जीवन पर पड़ा। गाँव गरीबी और बेगारी का शिकार हो गया। "साहूकार से बीज उधार लेकर बोना, उस पर हाड़तोड़ मेहनत करना फिर भाग्य और भगवान के भरोसे से वर्षा रानी का इंतज़ार या फिर सूखा न पड़े। इसके लिए नदी और वामन महाराज को चढ़ावा चढ़ाना।"¹ बाँध परियोजना के कारण यह सब टूट जाता है। लोगों को अपनी ज़मीन, खेत छोड़ना पड़ा। गाँव उजड़ने लगे। उनकी आजीविका खत्म होती है। गाँव की पूरी आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी।

तेजिन्द्र कृत 'काला पादरी' उपन्यास मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में, जंगल के आस-पास जीने वाले आदिवासी जीवन का संवेदशील और सूक्ष्मता से परिपूर्ण कहानी है। उपन्यास में धर्मान्तरण, राजनीतिक,

1. वीरेन्द्र जैन - डूब, पृ. 24

आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ आदिवासियों की दयनीय स्थिति को अत्यन्त यथार्थ व जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भूख से तड़पते आदिवासियों की स्थिति को उपन्यास में इस प्रकार प्रस्तुत किया है 'साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गयी। उसने भी कई दिनों से कुछ नहीं खाया था, आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियाँ और बंदरों का शिकार कर, उनका माँस तक खा रहे हैं।'¹ आर्थिक अभाव में कष्ट भोगने वाले लोगों की सबसे दयनीय हालत यहाँ देखने को मिलती है।

संजीव कृत 'जंगल जहाँ शुरु होता है' में थारु आदिवासी के जीवन-संघर्ष के यथार्थ को उजागर करता है। इसमें पश्चिमी चंपारण के बेतिया अंचल की थारु जनजाति का समाज, जीवन पद्धति, संस्कृति, डाकू, पुलिस राजनीतिज्ञ एवं प्रशासन के भी यथार्थ का समावेश हुआ है। 'थारू' आदिवासी लोग जंगलों में अभावग्रस्त ज़िन्दगी बिताने के लिए अभिशप्त है। एक ओर तो वे ज़मीन्दारों के अत्याचार से पीड़ित हैं तो दूसरी ओर डाकूओं के उत्पीड़न से। उपन्यास में 'बिसराम' की खेती को ज़मीन्दारों ने हड़प लिया

1. तेजिन्दर - काला पादरी, पृ. 21

तो दूसरी ओर मलिकार ने उसके भैंस को। भरपेट भोजन केलिए उसके परिवार तरसता रहता था। बेटी के अंतिम संस्कार को भी ठीक तरह से करने केलिए उनके पास पैसा नहीं था। बिसराम की दयनीय स्थिति उपन्यास में यों चित्रित है, 'पहले चीनी मिलें बंद हुई, फिर खेत बंधक हुए, भैंस गई, मेहरारू मरन-सेज पर और बेटी को साँप ने डँसा।'¹

राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' में झारखंड में रहनेवाली आदिवासीयों के शोषण की कथा है। अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के बाद झारखंड के जंगलों में एक नयी शोषक संस्कृति का उदय हुआ। अंग्रेज़ों ने अपने शासन के समय झारखंड के मूल निवासियों की जल-जंगल-ज़मीन के पारस्परिक अधिकारों को छीनकर उन्हें इन सभी से बेदखल कर दिया था। आज़ादी के कई वर्षों बाद आदिवासियों की समस्याओं और प्रश्नों की स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उपन्यास में द्रष्टव्य है 'आज़ादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएँ बनी हैं पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आबंटित राशी का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा। कई योजनाएँ कागज़ पर चलती रहती हैं। कई योजनाएँ तो फाइलों की कब्र में ही दफन हो गयी, यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अनपढ़, असंस्कृत, भूखा नंगा, शोषित, उपेक्षित

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 82

और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा-कटा रहेगा।”¹

मधुकर सिंह का ‘बाजत अनहद ढोल’ उपन्यास भी झारखंड के संथाल आदिवासियों के अंग्रेज़ साम्राज्य के खिलाफ किए गए संग्राम की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसमें संथाल धूल के नायक सिद्धो, कान्हो, चाँद, भैरो का जनांदोलन है।

‘धूणी तपे तीर’ हरिराम मीणा द्वारा दक्षिणी राजस्थान के भील आदिवासियों के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है। गोविन्द गुरु के नेतृत्व में आदिवासी भीलों ने अंग्रेज़ी एवं देशी सामंती शासकों के विरुद्ध एक लंबी लड़ाई लड़ते हुए मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। परंतु इस सदादत का जिसमें 1500 से अधिक आदिवासियों ने प्राण बलिदान दिए पर ऐतिहासिक ग्रंथों में इसका उल्लेख तक नहीं किया गया।

इस उपन्यास में दक्षिणी राजस्थान के आदिवासियों पर देशी रियासतों के शासक और फिरंगियों के द्वारा किए जानेवाले अत्याचार, दमनचक्र, शोषण, उत्पीड़न, अभाव, गरीबी, भूखमरी, महामारी से त्रस्त जीवन का भी सजीव चित्रण है। आदिवासी अंचल में भीषण अकाल में त्रस्त लोगों की दयनीय दशा का अनदेखा करने वाले देश के राजा, अंग्रेज़ लोगों के साथ मिलकर आदिवासी इलाकों में अनेक प्रकार की अमानवीय ‘यह वह दौर था जब ब्रिटीश सरकार नये-नये कानून का फायदे बनाकर अपने हस्तक्षेप की

1. राकेश कुमार सिंह - पठार पर कोहरा, पृ. 137

रणनीति तैयार किए जा रही थी। वनोपज पर पाबंदी, बंदोबस्त व कृषि 'कर' में वृद्धि, अबकारी नीति, नमक से स्वतंत्र उत्पाद व व्यापार पर नियंत्रण आदि ऐसे मामले थे जिनका आदिवासी जन विरोध किए जा रहे थे।¹ यहाँ आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले आदिवासी लोगों का यथार्थ चित्रित है।

उपर्युक्त उपन्यासों के अलावा संजीव का 'धार' 'पाँव तले की दूब', 'सावधान! नीचे आग है', मैत्रेयी पुष्पा की 'अल्माकबूतरी', रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, विनोद कुमार का 'रेड जोन', आश्विनी कुमार पंकज का 'माटी माटी अरकाटी', सुभाष पंत का 'पहाड़ चोर' निलय उपाध्याय का 'पहाड़', विनोद कुमार का 'समर शेष है' राकेश कुमार सिंह का 'जहां खिले है रक्त पलाश' आदि कई उपन्यासों में आदिवासी जीवना के विभिन्न आर्थिक विपन्नता को प्रस्तुत किया गया है।

2.3.1 जंगल पर आश्रित जीवन

आदिवासी समाज का आश्रय 'जंगल' ही है। पर बाहरी हस्तक्षेप के कारण जंगल और उसके संसाधनों से वे वंचित हो रहे हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में जंगल पर आश्रित जीवन जीनेवाले इन लोगों को कैसे दहस-नहस कर दिया गया इसका वास्तविक चित्रण देख सकते हैं 'पहले गाँव में इक्का-दुक्का लोग ही बाहर काम की तलाश में जाते थे। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से धनकटनी के बाद बड़ी संख्या में लोग काम करने बाहर जाने लगे हैं।

1. हरिराम मीणा - धूणीतपे तीर, पृ. 42

गाँव के जीवन-यापन के संसाधन सिमटते जा रहे हैं। पहले परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ी तो जंगल काटकर नई ज़मीन बना ली जाती थी। लेकिन अब जंगल उनका नहीं रहा। ठेकेदार चाहे जंगल का जितना भी दोहन कर ले, लेकिन आदिवासी यदि अपनी ज़रूरत के लिए जंगल साफ करना चाहे तो वन विभाग के सुरक्षा गार्ड पकड़ लेते हैं। चालान कर जेल भेज देते हैं।”¹

‘पहाड़’ नामक उपन्यास में जंगल के प्रति उनका लगाव ‘जितिया बाबा के कथन से स्पष्ट हो जाता है, ‘जंगल हमारा घर था। जंगल में हमारे देवता थे। जैसे खेत में हमारे देवता थे। जैसे खेत में मकई के संग मोथा निकल आता है वैसे ही जंगल में बरसात के बाद कई पेड़ निकल आते हैं और बड़े पेड़ों की खुराक खा जाते हैं। हम उनको साफ करते थे ताकि पेड़ बड़े हों। सूखे पेड़ इसलिए काटते थे कि नए पेड़ों के लिए जगह बने। पेड़ की बनराई डालो को इसलिए काटते थे कि तना मज़बूत हो। लकड़हारा जंगल का हत्यारा होता है, हम रखवार होते थे।”² ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में सारंडा के कराइकेला इलाके के मचुआ गगराई ने अपने गाँवों के आदिवासियों को संगठित करके खेती करने का आग्रह प्रकट करते हुए कहते हैं, “इन जंगलों पर हमारा पारंपरिक अधिकार रहा है। जब बाहरी लोग आकर जंगल साफ करके अपने लाभ के लिए सागवान उगा सकते हैं तो पेड़ काटकर हम क्यों नहीं कर सकते खेती?”³ यहाँ प्रतिरोध का भाव देख सकते।

-
1. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 23
 2. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 127
 3. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 115

वनोपज पर पाबंदी लगाने वाले बाहरी लोगों की अनीति को 'धूणी तपे तीर' में यों चित्रित किया है, 'यह वह दौर था जब ब्रिटिश सरकार नये-नये कानून का फायदे बनाकर अपने हस्तक्षेप की रणनीति तैयार किए जा रही थी। वनोपज पर पाबंदी, बंदोबस्त व कृषि 'कर' में वृद्धि, अबकारी नीति, नमक के स्वतंत्र उत्पाद व व्यापार पर नियंत्रण आदि ऐसे मामले थे जिनका आदिवासी जन विरोध किए जा रहे थे।"¹

'जंगल में हम कुछ समय तो जंगली फल-फूल और शिकार पर जिन्दा रहे। फिर जंगल काटकर जहाँ-तहाँ खेत बनाया गया। पहाड़ों से उतरते पानी को बाँधकर बड़े-बड़े तालाब, बाँध बनाए गए। आज अपने चारों तरफ जो खेती लायक ज़मीन तुम देख रहे हो, वह इंच-इंच ज़मीन हमारो पुरखों ने अपने खून-पसीने से सींच-सींचकर बनाई है। इसीलिए हम कहते हैं - यह जंगल और यह ज़मीन हमारी है।"²

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में बी जाम्बिरा अपने पूर्वजों द्वारा संपन्न बनाये गये जंगल की यादें यों करते हैं - "चारों तरफ तो ज़मीन ही ज़मीन पड़ी है। पहाड़ी ढलान पर ही सही, पर जितनी चाहे साफ करके खेती लायक बना लेता! इस घने जंगल में अंग्रेज़ सरकार के जंगल विभाग वाले रोज रोज थोड़े ही न आते हैं झोपड़ी या फसल तबाह करके

1. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 42
2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 14

उन्हें उजाड़ने? और फिर अंग्रेज़ी सयोंब लोगों का इस जंगल का मालिक बन जाने के बावजूद जब तक जिसे-तिसे पकड़कर सिपाहियों द्वारा खदेड़े जाने या मार पीट किए जाने के बावजूद क्या जंगल से फल मूल, लकड़ी पत्तल लेना, शिकार करना पूरी तरह से बंद कर दिया है आदिवासियों ने?”¹ इसी उपन्यास में ओर एक प्रसंग में अपने अस्तित्व को बचाने के लिए प्रतिरोध करने वाले लोगों का चित्रण मरंग गोडा नीलकंठ हुआ उपन्यास में इस प्रकार हुआ है - “हमारा पूजा स्थल सरना, हमारी मिलन ख्याली... हमारे नाच गान और मनोरंजन की जगह-हमारे नाच गान और मनोरंजन की जगह-अखड़ा, हमारी ससन दिरी-जहां हमारे मृत पुरखों की निशानी के रूप में गड़े हुए खड़े पत्थर हमें हमारे प्रियजनों से जोड़े रखते हैं, इन जंगलो के बीच ही तो हैं। जंगल हमारा भगवान है। हमारा बिरबोंगा बुरु बोंगा....।”²

2.3.2 परिस्थिति शोषण से उत्पन्न समस्याएँ

पृथ्वी और प्राकृतिक संतुलन का सवाल मारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। हम कितना भी विकास कर जाएँ, विकास की सीढ़ियाँ चढ़ जाएँ, एक प्राकृतिक आपदा हमारे समूचे अस्तित्व को मिटाकर रखदेगी। जब मनुष्य प्रकृति की सहन शक्ति की सभी सीमाएँ पार करता है, तो वह भी अपने संहार तांडव से पीछे नहीं हटती। इसी सत्य को पहचानकर साहित्यकार पारिस्थितिकी

1. महुआ माजी - मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, पृ. 46

2. वही - पृ. 114

के प्रति, पर्यावरण के प्रति, प्रकृति के प्रति सजगता और सतर्कता बरतने लगा। आदिवासी उपन्यासों में भी प्रकृति के प्रति यह सजगता हम देख सकते हैं। क्योंकि जो जन-समूह आज भी प्रकृति के साथ ताल-मेल बनाए रखकर रहते हैं, उनके लिए प्रकृति पर होनेवाले अत्याचार, अपने ही ऊपर होनेवाले अत्याचार से कम नहीं है। प्रकृति पर होनेवाले अत्याचारों का दुष्परिणाम आदिवासियों पर भी हावी होते हैं। इस प्रकार पारिस्थितिक संकट आदिवासी जीवन की त्रासदी बन जाती है।

संजीव का उपन्यास 'सावधान! नीचे आग है' में जिस प्रकार ठेकेदार और पूँजीपति विकास के नाम पर, मुनाफा को लक्ष्य बनाकर प्रकृति का शोषण कर रहे हैं और जिस प्रकार प्राकृतिक शोषण आदिवासी और मज़दूरों के शोषण या संकट में बदल जाते हैं इस तथ्य को संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है। अवैद्य कोयला खनन ने पूरे चंदनपूर की काया को ही पलट दिया है। जब आशीष और ऊधम सिंह पहली बा चंदनपूर आया तो उन्हें झुरझुरी आ गई थी। झुरझुरी का कारण उपन्यास में इस प्रकार मिलता है - 'कुहासा नहीं, थुआंसा के जाल में उलझा तारों की झिलमिलाहट लिए जल रही है दूर-दूर की बत्तियाँ।'¹ इस प्रकार चंदनपूर जैसी हरियाली जगह 'काले रेंगिस्तान' में परिणामित हो गया है।

1. संजीव - सावधान, नीचे आग है, पृ. 12

आदिवासी लोग मुख्यतः जंगलों पर ही सीमित रहता है। इसलिए प्राकृतिक आपदाएं उनके जीवन की त्रासदियाँ हैं। ओले से हुए फसल की बर्बादी ने आदिवासी लोगों को कैसे दूख पहुँचाती है इसका चित्रण 'धूणी तपे तीर' में इस प्रकार हैं 'गाँव के आदिवासी खेतों में ओलों की बरसात से चौपट हुई फसलों को देख-देखकर माथा पीट रहे थे। फसल नष्ट होने की गमी किसी प्रियजन की मौत से बड़ी पीड़ थी उनके लिए।"¹ यहाँ प्रकृति और आदिवासी जीवन कितना मिलजुलाकर है इसका स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

प्रकृति और प्राकृतिक संपदाओं के साथ मिलजुलकर जीने वाले आदिवासी लोगो की माँग प्रकृति की रक्षा है। मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में 'हम कागज़ कलम की भाषा नहीं जानते। जंगल के बीच, जहाँ जहाँ हमारे गाँव थे, वहाँ वहाँ ससनदिरी (कब्र) में हमारे पुरखों की निशानी के रूप में गाड़े गए खड़े पत्थर ही हमारे पट्टे हैं। उजड़े हुए गाँवों की निशानी, अखड़ा, सरना स्थल और खेतों के अवशेष ही हमारे पट्टे हैं। धने जंगल के बीच वर्षों पहले अपनी अपनी झोंपड़ियों के आसपास हमारे पुरकों द्वारा यत्नपूर्वक लगाये गये इमली, आम, करंज, कुसुम, महुआ, आदि के पेड़ ही हमारे पट्टे हैं। हमें हमारी ज़मीन वापस चाहिए।"² यहाँ प्रकृति और प्राकृतिक संपदाओं के बचाने भाव देख सकते हैं। प्रकृति के बिना अपनी अस्तित्व ही नहीं है यह

1. हरिराम मीणा - धूणातपे तीर, पृ. 18

2. महुआ माजी - मरंगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 116

ज्ञान इसमें निहित है। इसलिए प्रकृति का दोहन इन के लिए असंभव है। पीटर पल एक्का का उपन्यास 'जंगल के गीत' में इसका मिसाल है उपन्यास में ऐसे ही एक सामूहिक शिकार पर्व 'फगू सेंद्रा' का चित्रण देखने को मिलता है 'मुर्गी की बलि पहान ने आखेट देवता को चढाई, तो तुंबा टोली के युवक करमा के नेतृत्व में 'फगू सेंद्रा' के लिए निकल पड़े थे। अच्छा शिकार मिल जाए तो दो चार दिनों का अच्छा गुज़ारा हो जाएगा।"¹ याने कि आदिवासी समाज प्रकृति से उतना ही ग्रहण करते हैं, जितने की आवश्यकता होती है और वह भी सामूहिक रूप से। चाहे वह शिकार का हो या फिर वनोपज का।

2.4 बाहरी हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ

आदिवासी समाज के निरीक्षण से यह पता चलता है कि महाभारत काल से लेकर आज तक बाहर के लोग आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप करते रहे हैं। आदिवासियों की अशिक्षा, सीधापन, भावुकता, आदि का बाहर के लोग समय-समय पर फायदा उठाते रहे हैं।

'समर शेष है' उपन्यास का बाबा अपने ऊपर होनेवाले शोषण को 'सोबरन' से यों कहते हैं, 'इन लोगों ने कैसे-कैसे अत्याचार और अनाचार किए इसकी आज तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। ज़मीन हमारी लेकिन वे हमसे मनमाना 'कर' माँगते, हमसे 'बेगार' करवाते और विरोध करने पर मारते-पीटते। हमारी बहु-बेटियों को उठाले जाना रोज़ की बात थी। यहाँ

1. पीटल पॉल एक्का - जंगल के गीत, पृ. 181

तक कि हम अपने खेत में खड़े पेड़ का फूल भी उनकी इजाजत के बगैर नहीं तोड़ सकते थे। अंग्रेजों के आने के बाद कई तरह के कानून बने कोर्ट-कचहरी, उनके कारिन्दे, ज़मीन्दारों की ही मदद करते।”¹

‘पहाड़’ नामक उपन्यास में बाहरी लोगों की हस्तक्षेप से सब कुछ नष्ट होनेवाले आदिवासी लोगों की दशा देख सकते हैं - ‘गलहौर गांव में सबसे हाशिए पर बने एक घर में जन्म लिया था दशरथ ने। उस समय वहाँ के समाज में माँझी के लिए मज़दूरी के सिवा कोई काम नहीं था। अब तो जवरावाली यजमानी पद्धति ही खत्म हो गई। मालिक और परजा के बीच सारे संबंध ही खत्म हो गए। न बैल बचे, न हलवाई, न चरवाहे। न कुम्हार, न बढ़ई, न लोहार। सारी जातियाँ अपने पारंपरिक पेशे से अलग हो गईं और अब रोजी-रोटी की तलाश में शहरों की ओर भाग रही हैं। जिन सवालियों के जवाब दशरथ को बेचैन करते थे, उनका कोई हल, कोई समाधान नहीं निकला। वे सारे सवाल ही सिर से खत्म हो गए। और अब तो यह गांव ही जंगल की तरह करने लगा है। आज जो गलहौर में रहते हैं -चाहे किसी भी वर्ग और वर्ण के हों, उनकी हालत तब के माँझी जैसी ही है।”²

विकास के नाम पर होनेवाले खोखलापन को राकेश कुमार सिंह ने ‘पठार पर कोहरा’ नामक उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं - “झाड़-झंखाड़ से भरे इस भूखंड झारखंड में अधिकांश रेल-पथ या सड़कें आम जनता की

1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 15

2. निलय उपाध्याय- पहाड़, पृ. 284

सुविधा-असुविधा को ध्यान में रखकर बनी भी नहीं हैं। असल में यातायात के लिए ऐसी सड़कें निर्मित ही नहीं होती यदि झारखंड की जादुई ज़मीन के गर्भ में अकूत संपदा और ज़मीन के ऊपर धन ही धन न बिखरा होता-खनिज अयस्क, कोयला और बेशकीमती वनोपज के रूप में। इस वन प्रांतर में रेल और सड़कें जंगल के मरणांतक दोहन के उन्हीं उद्देश्यों हेतु निर्मित हुआ हैं जिन उद्देश्यों की बलि चढ़ते रहे हैं कई और अन्य वन।”¹

‘पहाड’ उपन्यास में भी बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से बर्बाद आदिवासी जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। ‘जितिया’ बाबा दशरथ से कहते हैं, ‘दीकुओं से हमारे बाबू चाचा लोग बहुत डरते थे। कहते थे कि गाँव में रहने जाओगे तो दिक्कू ले जाकर दखिन में बसाएगा सेवा करवाएगा बीवी-बच्चों पर बुरा नज़र डालेगा। हमारा हाल अब के जैसे नहीं था। माँझी और बाघ जंगल के राजा होते थे। गाँव में आने के बाद सब खत्म हो गया।”²

2.4.1 अशिक्षा

अशिक्षा किसी भी समाज के लिए अभिशाप ही है। आदिवासी समाज की अपनी सारी समस्याओं का मूल कारण अशिक्षा ही है। अंधविश्वास, बेरोज़गारी शोषण जैसी समस्याओं का मूल कारण भी शिक्षा की कमी है। आज़ादी के पैंसठ वर्षों के बाद भी भारत की संपूर्ण जनता साक्षर नहीं हो पायी। आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए सरकारी योजनाएँ तो

-
1. राकेश कुमार सिंह - पठार पर कोहरा, पृ. 87
 2. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 127

बहुत हो रही है। लेकिन उनकी अपनी मातृभाषा में प्रारंभिक शिक्षा न होने के कारण मुख्यधारा समाज की भाषा को समझने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। आदिवासी लोग जंगलों में ही रहते हैं। मुख्यधारा समाज से याने कि बाह्य समाज से उनका कोई विशेष संबंध भी नहीं है। इस संदर्भ में आवश्यक है कि आदिवासियों को उसी भाषा में शिक्षा दी जानी चाहिए जिसे वे समझ सकें।

आदिवासी समाज को अन्य समाज के साथ मिलाने के लिए आवश्यक एक तत्व है 'शिक्षा'। इसके बारे में डॉ. गोविन्द गारे ने कहा है, 'किसी भी पिछड़े समाज का अगर विकास होना हो विशाल समाज में उसे एकरूप, एकात्म होना हो तो पहले उस समाज में शिक्षा का प्रसार होना चाहिए। इसलिए आदिवासियों के सुधार तथा परिवर्तन के लिए शिक्षा का प्रसार बढ़ाना होगा। शिक्षा से उनकी दृष्टि व्यापक और विशाल होगी। आसपास के समाज का सम्यक ज्ञान उन्हें सहज प्राप्त होगा तथा सामाजिक घटकों में वाँछित प्रतियोगिता और महत्वाकांक्षा निर्मित होने से आदिवासी समाज में स्वत्व का अहसास पैदा होगा, जिससे अस्मिता का अंकुर फूटेगा।'¹

शिक्षा का अभाव उनके विकास में बाधा बन रहा है। आज के आदिवासी उपन्यासों में शिक्षा की कमी के कारण उठनेवाली समस्याओं का चित्रण देख सकते हैं। शिक्षा के महत्व के उल्लेख करने का प्रयास रचनाकारों ने किया है। हरिराम मीणा ने 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी महापुरुष गोविंद

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी विकास से विस्थापन, पृ. 33

गुरु के माध्यम से शिक्षा के महत्व को रेखांकित किया है - “पढ़ाई लिखाई के महत्व को समझो। मैं स्कूल में नहीं पढ़ा, लेकिन इधर-उधर से आखर ज्ञान सीख लिया। तुम भी सीखो। बच्चों को पढ़ाओ। तभी वे समझदार बनेगे। गाँव-गाँव में जो भी थोड़ा-पढ़ा-लिखा हो उसका धर्म है कि अन्य लोगों को पढ़ायें। पढ़ाई घर के वातावरण से होती है, इसलिए बड़े आदमी भी शिक्षा प्राप्त करो। राजा, जागीरदार हाकिम की बेगार मत करो। इनमें से किसी का भी अन्याय मत सहो।”¹

आदिवासी अज्ञान, अशिक्षा के कारण अत्यंत पिछड़े हुए हैं। आज़ादी के पश्चात् भी ये लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं है। ‘जंगल के आसपास’ उपन्यास में रायसाहेब और ओझा के आतंक और अन्याय के कारण वहाँ के लोगों में जड़ता और दबू मानसिकता उत्पन्न होना और इसके कारण वे अपने बहू-बेटियों की इज्जत अपनी आँखों के सामने लूटते देखकर भी चुपचाप रहते हैं। अपनी समस्याएँ एवं अधिकारों पर संगठित होकर बातचीत करने की इच्छा भी इन लोगों में नहीं है। इन लोगों की आर्थिक समाजिक स्थिति देखकर लेखक चिंता व्यक्त करता है - “जब धरती के अधिकांश हिस्से नई रोशनी से पूरी तरह वंचित है तो इमसान का चन्द्रलोक तक पहुँचकर के एक नए युग में प्रवेश करने का दावा कहाँ तक उचित है? क्या तराजू के एक पलड़े का आसमान छू जाना और दूसरे का पाताल में धंस जाना ही मानवीय सभ्यता के विकास या उत्कर्ष की निशानी है? नहीं, यह विकास नहीं, विकास का भोंडा नाटक है।”²

1. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 70

2. राकेश वत्स - जंगल के आस पास, पृ 86

‘ग्लोबल गाँव के देवता’ में आदिवासी बच्चों की पाठशालाओं को दयनीय स्थिति को यों दर्शाया गया है, “आधी अधूरी बिल्डिंग जैसे-तैसे बना हास्टल, मुर्गीखानों जैसा शिक्षक आवास। जहाँ साफ-सफाई होनी चाहिए नहीं सबसे ज़्यादा गंदगी। इन आदिवासी स्कूलों में कभी झाड़ू-पोंछा नहीं लगता। इन स्कूलों की देख रेख के लिए कोई तैयार नहीं पर मेस के खरीदारी के लिए मारामारी। इन सब के विरोध में कोई कुछ कहें तो उन लोगों के मुख से निकलती है ‘इन मकई के घट्टा खाने वालों को यहाँ भात-दाल मिल जाता है, वही बहुत है।’”¹ आदिवासी जनजीवन की मूल समस्या है अशिक्षा। ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में गजलीठोरी गाँव में संजीव सान्याल मास्टर बनकर आते हैं। वे देखते हैं कि वहाँ कोई स्कूल नहीं सिर्फ स्कूल का बोर्ड है। लेकिन स्कूल के लिए अनुदान बराबर प्राप्त हो रहा है। शिक्षा विभाग के अधिकारी उसे मिलकर सारा अनुदान खाये जा रहा है। सान्याल ने समझ लिया कि यहाँ जो स्कूल है वो मात्र कागज़ पर चलता है और साहू की दूकान में स्कूल का सारा रेकार्ड रहता है। स्कूल नहीं महाविद्यालयों की भी यही स्थिति है। बिहार के एक दो भूतपूर्व मुख्यमंत्रियों के कार्यकाल में कुकुरमुत्तों की भाँति ऐसे महाविद्यालय उगे थे जो शिक्षा क्षेत्र के लिए शर्म की बात थी। लेखक के शब्दों में “इस प्रकार विश्वविद्यालयों के परिसर में ज्ञान, प्रतिभा, योग्यता और मेधा के बदले पैखी, जोड़-तोड़, गुण्डाई और कार्य से अनुपस्थिति रहने की परंपरा स्थापित करनेवाले शिक्षकों की एक दबंग, अयोग्य अकुशल और लम्पट पीढ़ी का आविर्भाव हुआ।”²

1. रणेन्द्र - ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 20

2. राकेश कुमार - पठार पर कोहरा, पृ. 83

2.4.2 स्त्री शोषण

आदिवासी समाज में स्त्री की अपनी स्वतंत्रता है। मुख्यधारा समाज की अपेक्षा स्त्री को अपने अधिकार को बनाए रखते हुए स्वेच्छा से जीवनयापन करने की स्वतंत्रता है। सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर रहने का अधिकार है। लेकिन बाहरी हस्तक्षेप से आदिवासी समाज में भी स्त्री की दशा बिगडने लगा। अंधविश्वासों के कारण भी स्त्री की दुर्दशा बढ़ने लगी है। ललिता बगेल का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है - “आदिवासी समाज की स्त्रियां अन्य समाजों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सशक्त, आत्मनिर्भर एवं स्वतन्त्र समझी जाती हैं लेकिन इस बात को पूर्णरूपेण सत्य नहीं माना जा सकता है। पितृसत्तात्मक विचारदारा की अवधारणा वाले समाज में नारी की स्थिति पुरुष की तुलना में अधिक दयनीय है चाहे वो आदिवासी समाज हो या अन्य कोई समाज।”¹

आदिवासी समाज में भी पितृसत्तात्मक ताकत के कारण स्त्री को संपत्ति में हक न देने की तथा विधवा होने पर उसे ‘डायन’ कहकर अपमानित प्रताड़ित करके उनकी हत्या तक करने की प्रणालियाँ जारी हैं। ‘समरशेष है’ में विष्टुसाव नामक पात्र बलराम माँझी की विधवा ‘रूपा’ की हत्या उसके ही जेठ और जेठ के बेटे से करवाता है। उपन्यास में इसका चित्रण है - “पूरे गाँव में इस बात की चर्चा हत्या के दो दिन पहले फैली।

1. ललिता बगेल - आदिवासी समाज और राजनीति में नारी की स्थिति लेखन से, युद्धरत आम आदमी, मार्च 2018, पृ. 68

रूपा का पति कुछ साल पहले एक दुर्घटना में मारा गया था। पाँच छह दिन पहले उसका इकलौत बेटा साँप काटने से मर गया। दुश्मनों ने इस मौके का फायदा उठाया प्रचारित किया कि रूपा 'डाइन' है।”¹

‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ नामक उपन्यास में भी युरेनियम खनन से उत्पन्न प्रदूषण से फैलने वाली बीमारियाँ और बच्चों के पैदा होते ही मर जाना आदि की जिम्मेदारी ‘सगेन’ की ‘ताई’ के ऊपर सौंपकर उसको बर्बादी करने का षड्यंत्र रचता है। ‘आज हम लोगों ने डाइन को पकड़ लिया है। आओ, आओ.. सब लोग आओ और इसको मार डालो... और देखते ही देखते आसपास के काफी लोग वहाँ जमा हो गए। फिर सबने जी भरकर उस पर अपनी भड़ास निकाली। अपने अपने परिवार में हुई मौतों, बीमारियों और शारीरिक विकलांगताओं की भड़ास। उन्होंने उसका सर मुंडाकर जबरन मानव मल खिलाया और बूरी तरह घायल करके मार ही डालने का उपक्रम कर रहे थे कि देवां ने उन्हें रोका। कहा इसे अभी मत मारो। पहले इससे मृत बच्चों को जिंदा करवा लो इसने उसे मारा है।”²

आदिवासी समाज के बाहर काम करने वाली आदिवासी स्त्रियाँ कई प्रकार के शोषणों के शिकार बनती हैं। समर शेष में ‘बाहर से आए ठेकेदारों, उनके यहाँ काम करनेवाले मुंशी, ट्रक चालकों आदि का आदिवासी औरतों के प्रति नज़रिया बहुत ही अपमान जनक था। वे मानकर चलते कि

-
1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 55
 2. महुआ माजी - मरंगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 212

आदिवासी स्त्रियाँ सहज सुलभ और भोग्य है। आदिवासी समाज में व्याप्त यौन-स्वच्छंदता और खुलेपन के बारे में उन्होंने न जाने कैसी-कैसी काल्पनिक कहानियाँ सुन रखी थीं और उन्हीं से यह धारणा बना ली थी कि आदिवासी औरतें यौन शुचिता के प्रति अतिशय लापरवाह होती हैं और उन्हें आसानी से बहलाया-फुसलाया जा सकता है।”¹ ‘पठार पर कोहरा’ उपन्यास में भी आदिवासी स्त्री के प्रति दृष्टिकोण है। आर्थिक विपन्नता से शोषित आदिवासी स्त्रियों को देखकर संजीव को लगता है कि आदिवासी समाज और स्त्रियों के प्रति हमारे सुसंस्कृत समाज का रवैया केवल मनोरंजन मात्र का ही है “कहाँ है इस जंगल में वैसी शृंगारयुक्त आदिवासी स्त्रियाँ जिन्हें तैलचित्रों में देखने रहे हैं संजीव। गजलीठोरी की अधिकांश महिलाएँ तो दुःख-दैन्य की तस्वीरें ही हैं।”² यहाँ आदिवासी स्त्रियों की सच्चाई प्रस्तुत की गयी है।

‘जंगल जहाँ शुरु होता है’ में ‘थारु’ नारियों का शोषण विभिन्न स्तरों पर अनेक वर्गों द्वारा किया जाता है। थारु नारियों की गरीबी, मज़बूरी तथा अकेलेपन का फायदा लोग आसानी से उठाते हैं। ‘मलारी’ के साथ ठाकूर सेठ, पुलिस, सभी शारीरिक शोषण करते हैं। मलारी को पोलिस टाकुओं से मिली हूई समझकर पकड़ती है। वह अपनी मज़बूरी बताती है - ‘हाकिम हमारा कसूर बस इतना है कि गरीब हैं, औरत जात है, जो ही आता है डरा-धमका के जबरदस्ती करे को मगजूर करता है।’³

-
1. राकेश कुमार - पठार पर कोहरा, पृ. 154
 2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 212
 3. संजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 196

आदिवासी स्त्रियाँ स्वावलंबी होती हैं। वे खट-कमाकर अपना और अपने परिवार का भरण पोषण करती हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में। 'हमारी औरतें पर्दे में नहीं रहतीं। हमारे साथ खटती हैं उनकी औरतें काम नहीं करतीं। सिर्फ उनका वंश बढ़ाने के लिए हैं।'¹ यहाँ 'सोबरन' का बाबा अपने समाज के स्त्रियों मुख्यधारा समाज के स्त्रियों की तुलना में कितना बेहतर है इसे समझाने का प्रयास किया है।

आदिवासी स्त्रियों ने अपने समाज की अर्थव्यवस्था के लिए केन्द्रिय हैं। वे मज़दूरी, श्रम करना, वनोवज इकट्ठा करना, कृषि उत्पादन में भाग लेने के लिए जहाँ उपलब्ध हैं वहाँ काम करती हैं। एकदम घरेलू काम, बच्चों के लालन-पालन, पशु-पाल के पूरे बोझ को सहन कर रही हैं। लेकिन कभी-कभी बाहरी समाज की साजिशों के कारण 'डाइन' घोषित कर आदिवासी स्त्री को अपने संपत्ति पर हक न मिलाने का बात भी देख सकते हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में बलराम मांझी की विधवा 'रूपा' को पति के संपत्ति में हक न मिलाने के लिए बाहर से आए 'विष्टू साव' उन्हें 'डाइन' कहकर उन्हें मार डालने की साजिशें करते हैं। उपन्यास में - "रूपा डइन बन गई, यह खबर सोबरन तक भी पहुँचती है। वे चिन्तित हो उठते हैं। ज़रूर यह किसी की साजिश है उसे अपने ही लोगों को अन्ध-विश्वास से बचाना होगा।"²

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ नामक उपन्यास में भी डाइन बनने वाली स्त्री की शोषण का चित्रण है। युरेनियम खनन से उत्पन्न प्रदूषण अनेक

1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 14

2. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 47

बीमारियाँ फैलने के कारण बन गया। लेकिन वहाँ के लोग तो अज्ञात थे। 'सगेन' अपनी ताई को एक ओर बच्चे के जन्म की सूचना पाकर मरंग गोड़ा आता है लेकिन तीन दिन के बाद ही वह नवजात शिशू चल बस। इसका कारण माँ ने यों बताया है - "बहुत जोर देने पर माँ ने मुँह खोला- यहाँ के लोगों को पता चल गया है कि तुम्हारी ताई ने डाइन विद्या साधन रखी है। इसलिए अब उसके पास जने से डरने लगे हैं लोग।"¹ क्या? सगेन हैरानी से अपनी माँ को देखना रह गया था। हैरान क्यों होता है? वह एक डाइन है। वह खुद अपने बच्चों का कलेजा खा जाती है। वह आगे कहता है कि 'मतलब मरंग गोड़ा में हो रही तमाम अजीबोगरीब बीमारियों की जड़ में कहीं न कहीं डाइनों का ही हाथ है। और इन डाइनों की सरगना है तुम्हारी ताई।"²

'समर शेष है' नामक उपन्यास में विधवा आदिवासी स्त्री 'रूपा' को कैसे डाइन बनाते हैं इसकी ओर 'सोबरन' अपने मानसिक व्यथा से व्यक्त करते हैं - "पूरे गाँव में इस बात की चर्चा हत्या के दो दिन पहले पैली। रूपा का पति कुछ साल पहले एक दुर्घटना में मारा गया था। पाँच-छह दिन पहले उसका इकलौता बेटा साँप कटने से मर गया। दुश्मनों ने इन मौके का फायदा उठाया। प्रचारित किया कि रूपा डाइन है। मैं उसे सावधान करने ही यहाँ आया था; लेकिन मेरे पहुँचने के पहले उसकी हत्या को चुकी थी।"³

-
1. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 123
 2. वही - पृ. 124
 3. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 47

‘धार’ उपन्यास में मैना तीस साल की एक भरी-पूरी संथाल युवती है। अपने और अपने समाज के ऊपर होने वाले समस्याओं के प्रति वे सजग है। अपना प्रतिरोध जाहिर करते हैं। संथालों के राह-रस्म और परंपराओं के प्रति वह पर्याप्त सजग है। तेजाब डालने से हुई पिता की मृत्यु पर वह उसके चुपचाप जलाने के विरुद्ध अड़ जाती है - संथाल की कब्र मिलती है। फिर टेंगर की कब्र ही बनती है। डायन उसका कलेजा निकालने आयेगी - ओझा की इस घोषणा पर वह कहती है, ‘कलेजा तो चुन-चुन के तुम लोग खाता रक्षा है। पंडित... तुमसे बड़ा डायन कोई है?...’¹

‘पहाड़ चोर’ उपन्यास में मोहन बाउ ने ‘केसर’ के साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं तो वह अपनी प्रतिक्रिया यों व्यक्त किया है ‘जो औरत की इज्जत नी कर सकता... वो उसे पियार भी नी कर सकता।’ तू किया पियार करेगा बाऊ, पियार करनेवाले नाम की तरह औरत को पीछे से नी पकड़ते। वे आँख मिलाकर सामने से बात करते हैं। पियार करनेवाला चोर की तरह ब्यौहार नी करता।² यहाँ अपने ऊपर होनेवाली अमानवीयता पर प्रतिरोध देख सकते हैं। ‘धार’ उपन्यास में संथाल लोगों के बीच डायन घोषित करने की परंपरा है। मैना की माँ गाँव में तेजाब की फैक्टरी बनने पर अपने पति टेंगर से झगड़ा करती है। तेजाब के पानी से श्याम की भैंस के मर जाने पर उसकी मौत का कारण मैना की माँ पर छोड़ दिया जाता है। महेन्दर बाबु जानगुरु नामक ओझा को दो सौ रुपये देकर उसकी माँ को डायन घोषित

1. संजीव - धार, पृ. 70

2. सुभाषपंत - पहाड़ चोर, पृ. 58

करवा लेता है - “ऊ शाल का पत्ता में तेल लगा के मन्तर पढ़ा, बोला मैना का माँ डायन है, उसका चलते - ई ये सब होता। हम तब छोटा था। माँ अलग रएता था। गाँव का सब, घेर लिया सब उसको, बोला तो डायन है। निकाल दो सौ रुपया दो ठो बकरा। माँ घबरा के भागा। सब ऐसे खदेड़ लिया जैसे मानुख जात नई पागल कुतिया हो।”¹ इस प्रकार के अंधविश्वास भी उनकी दुर्गति का एक अहम कारण है। इन भोले-भाले आदिवासी समाजों के लोगों को अंधविश्वास से बाहर निकालने के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था करना एकमात्र उपाय है।

‘अल्मा कबूतरी’ उपन्यास में आदिवासी लोग में पुरुष महिलाओं को वेश्या बनाकर धन आर्जित करते हैं, अथवा वेश्यावृत्ति से उनका कमाया हुआ खाते हैं। कबूतरा घुमक्कड़ जाति होती है। उनका मूल व्यवसाय शराब बेचना होता है। शराब बेचना या चोरी करने के जुर्म में पुलिस द्वारा अधिकतर कबूतरा जाति के पुरुषों को अपराधी घोषित किया जाता है। कदमबाई का पति जंगलिया भी इसी प्रकार अपराधी बनकर कदमबाई से दूर जंगल में जाकर बसता है। जंगलिया की अनुपस्थिति में कज्जा मंशाराम माते कदम बाई के रूप पर मोहित होकर धोखे से जंगलिया की हत्या करके कदमबाई के साथ शारीरिक संबंध बनाता है। उस संदर्भ में कदमबाई कहती है - वादे के हिसाब से वह पास आया, वह छाया को देखते ही मदहोश हो गई, गहराई हुई गेहूँ की बालियाँ पेट को गुतगुदा रही थीं, गुनगुनी बांहों ने

1. संजीव - धार, पृ. 39

उसका बटन बाँध लिया। हाय, सदा घाघरा खुद ही नीचे को सरका दिया। बंद आँखों में अपने ही गोरे बदन की छाया जगमगाई। आँखों पर रखे हाथों की उंगलियों से झाँकना चाहती थी कि गर्म सांसों ने होठों पर कब्जा कर लिया। सारे डर-भय को दबाने की खातिर उसने अपने पुरुष को भींच लिया। आनंद लोक में विचरने वाली कदमबाई, दोगुन ताकत से भिड़ को बीच लिया। मिलन की डोर से बंधी स्त्री हर लम्हें नई-से मुद्राएं अपनाते लगीं। अब केवल वह थी, बाकी कोई न था। धरती, धरती न थी। साथ उठती-दबती चादर। आसमान, आसमान न था। तारों का झमकता झूलना...।”¹

मुख्यधारा समाज के लोग स्त्री को एक ऐसी परिभाषा में बाँधने की कोशिश करते हैं कि वह जीने के लिए कठिन परिश्रम करती, देस-परदेस जाती है, सेवा करती है, स्वयं को नहीं, दूसरों को प्रसन्न रखने के लिए। लेकिन आदिवासी स्त्री दूसरों को प्रसन्न रखने की बजाय बराबरी की बात करती हुई दिखती है। डॉ. केरकेट्टा’ इस संदर्भ में हमें बताती हैं, “जब आदिवासी समाज में गोत्र का बँटवारा हुआ, तब परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी भी होती थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। जैसे एक कथा में पति-पत्नी मिलकर तीन रोटियाँ बनाते हैं। पति दो खाना चाहता है, जिसके लिए तर्क देता है कि उसने चावल लाया है। यह कठिन काम था, जिसे उसने किया। स्त्री भी कहती है कि वह दो रोटियाँ खाने की हकदार है,

1. मैत्रेयी पुष्पा - अलमा कबूतरी, पृ. 22

क्योंकि उसने लकड़ी ढूँढ़ा, चावल पीसा और रोटी पकायी। काम उसने अधिक किए। यने काम के आधार पर उसे बराबरी क हक मिलना चाहिए।”¹

इन उपन्यासों से यह समझ सकता है कि आदिवासी स्त्रियाँ अन्याय के प्रति सदियों ने जूझती आ रही है और आज भी लड़ रही है। अब वे खुद बोलने लगी हैं। समाज भी जगा रहा है। इसकेलिए ज़रूरी है सरकार और समाज का सक्रिय सहयोग।

2.4.3 गरीबी

आदिवासी समाज खेती से जुडकर जीनेलासी गैय़ उनके जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन ही कृषि है। लेकिन ये लोग गरीबी और भुखमरी के कारण भूमि का हस्तांतरण नहीं तो गिरवी रखते हैं। इसके फलस्वरूप विस्थापन जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आजीवन उन्हें अपनी भूमि वापस नहीं मिलती।

‘गगन घटा घहरानी’ में ‘चैतू’ और ‘दामडू’ नामक दो पात्र के माध्यम से इस सच्चाई को किया है - ‘जब अकाल पडता है। तब खेत सूख जाते हैं। ऐसी स्थिति में चैतू और ‘दामडू’ अपना खेत जमींदार के पास ‘रेहन’ रखते हैं। परंतु एक बार रायसाहब के पास गिरवी रखा हुआ खेत फिर नहीं मिलती।”²

1. वंदना टेटे - आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, पृ. 27

2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 72

आदिवासी और प्रकृति एक दूसरे से गहरे में जुड़े हुए हैं। प्रकृति से जो समग्रियाँ उपलब्ध होती हैं उस पर ही उनका जीवन-यापन आगे बढ़ता है। आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या है उनका आर्थिक शोषण। 'धार उपन्यास में मैना अपना समाज में व्याप्त आर्थिक विपन्नता की ओर दृष्टि डालते हैं - 'हम को याद आता, जब हम बच्चा था, खेती से चार छै महीने का काम चल जाता, आज एक दिन का भी नहीं। खेत-खतार, पेड़, रूख, कुआँ, तालाब, हम और हमारा बाल-बच्चा तक आज तेजाब में गल रहा है। भूख में जल रहा है।"¹

आर्थिक दृष्टि से उन्नति प्राप्त होने की आवश्यकता पर 'समरशेष है' उपन्यास में 'अजीत बाबू' शिबू से कहते हैं, "यह जो आज्ञादी मिली है वह अधूरी है। जब तक हम आर्थिक रूप से गुलम रहेंगे तब तक हमारा जीवन नहीं बदलेगा। हमारे दुःक तकलीफों का अन्त नहीं होगा। और आर्थिक आज्ञादी सर्वहारा क्रान्ति से ही होगी।"²

गरीबी और बेगारी की वास्तविकता पहाड़ उपन्यास में छेदी और दशरथ के वार्तालाप से समझ सकता है छेदी ने हँसते हुए दशरथ से कहा 'मुखिया के यहाँ से पिछले साल का जवरा नहीं मिला अभी तक। बहन के व्याह का सबक मालूम है ही। जवरा माँगने के लिए गया था तो ऐसे बोला था मुखिया, जैसे भीख माँगने गए हों। साल भर इनके घर के हँसुए का दाँत

1. संजीव - धार, पृ. 56

2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 114

बनाओ, खुरपी पीटो और कुदाल का बेंट लगाओं। हल्क का फल ठीक रको। ऊपर से इनके घर की औरतें भी पहसुल भेज देती हैं कि चले जाओ छेदी लोहार के यहाँ, बढ़िया-सा बेंट लगवा लो ललमुनिया.. देखना अब कैसे मरिचा परपराएगा और दौड़े हुए आँगे। कमीना मुफ्त में काम कराना चाहता है।”¹

जहाँ बाँस फूलते हं उपन्यास में आर्थिक और सामाजिक विषमता के कारण उनका आक्रोश कैसे तीव्र बन जाते हैं इसका उल्लेख है ‘मिजो बंधुओं! बहुत दिनों से ये धनी लोग ये बाई लोग लोगों का सुख अपनी तिजोरियों में कैद रख चुके हैं। गरीबों का आहार इनके गोदामों में मूल्य-वृद्धि की प्रतीक्षा करते-करते सड़ रहा है। समय आ गया है कि ये अब अपनी तिजोरियों और गोदामों से महरूम हों। उनकी अट्टालिकाओं को गिरा दिया जाए और सारे वित्त को इन धरती के बेटों इन झुके लोगों में बाँट दिया जाए। समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत ठें और इस निहंग धरती का भाग्य बदल दें।”² यहाँ के अमानवीय सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध का स्वर देख सकता है।

मैत्रेयी पुष्पा की उपन्यास अल्मा कबूतरी में ‘कबूतरा’ आदिवासियों का चित्रण है। कबूतरा आर्थिक दृष्टि से अत्यंत दयनीय है। होली आदि त्योहारों पर खाने को मिल जाता है। इन समाज की विशेषता यह है कि

1. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 66

2. श्री. प्रकाश मिश्र - जहाँ बाँस फूलते हं, , पृ. 130

इनका व्यवसाय शराब बनाना और चोरी करना है। इसके अलावा औरतें छोटे-छोटे काम भी करती हैं। राणा की माँ कदम बाई अपने लोगों के दशा पर प्रश्न चिन्ह करते हुए पूछते हैं कि 'क्या समझूँ? हमें तो बचपन से एक सच्चाई समझाई गई है कि कबूतरी के मर्द की कोई खेती-धरती नहीं होती। कुआँ-तालाब पर उसका हक नहीं होता। फिर भी जिंदा रहना होता है। अन्न-पानी चुराओ और जुटाओं बिना छत के सोने की आदत डालो। मौसमों को फतह करो।'¹ यहाँ इन समाजों की आर्थिक स्थिति संतोष जनक न होने के कारण बच्चे भी याने आगमी पीढ़ी भी चोरी करना सीख जाते हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज आर्थिक अभाव में जी रही है। श्रीप्रकाश मिश्र ने लुशेइयों आदिवासी जनता को केन्द्र में रखकर 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास की रचना की। इसमें इन लोगों की त्रासदी को व्यक्त किया है। वे फसल होते हैं मेहनत करते हैं और ज़मीन्दार आकर पक्की फसल करवाकर ले जाते हैं। इसके बाद दुष्परिणाम यह होता है कि- "भूख का मारा मिजो कुछेक वर्षों तक इंतज़ार करता था, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था। फसल जब तैयार होने को होती थी, तब अपना झोपड़ा बनाया जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने ज़मींदार रामनाथ लश्कर और मुश्ताक खांडकार अपने हाथियों के साथ आ धमकते, इनके घरों को उजाड़ फसल काट कर ले जाते और खेती लायक ज़मीन दो-चार साल के लिए कब्जा कर लेते थे।"² यहाँ आदिवासियों का

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 113

2. श्री. प्रकाश मिश्र - जहाँ बाँस फूलते हैं, , पृ. 69

ज़मीनदारों द्वारा शोषण और कैसे उनके समाज को उजाड़ते हैं इसका वस्तुविकता देख सकते हैं।

‘पहाड़’ उपन्यास में गरीबी के कारण बाहर काम करने के लिए बाध्य आदिवासी लोगों की दयनीय स्थिति यहाँ देख सकते हैं।

“मौला माँझी का बेटा दो साल पहले बसई के कहने पर भट्टे पर कम करने गया था। दो महीने बाद उसकी लाश आई थी और मालिकानों ने अब तक उसकी मज़दूरी का पैसा भी नहीं दिया था, आज-कल करके टरका रहे थे। मौला ने इस बार गुस्से में कहा - ‘दू साल से आप ऐसे ही कह रहे हैं!’

बसई ने झल्लाकर कहा - ‘का करें?’”

‘पइसा देने का मन है कि नहीं... साफ-साफ बता दीजिए।’

एक आदमी के कम होने के कारण मेट पहले से झल्लाए हुए थे, मौला की बात सुन बसई इस बार गुस्से में आ गए - “दिने में दारून पी लिये हो का? जाओ जिसने काम किया था उसको पैसा के लिए भेजो। तुमको नहीं देंगे।’ कहकर बसई ने मौला को धक्का दे दिया।”¹

राकेश वत्स कृत ‘जंगल के आसपास’ उपन्यास में सोन नदी के किनारे बसे दमकड़ी अंचल के आदिवासियों के अभिशप्त जीवन का चित्रण है। सोन नदी के किनारे फैले जंगल में आदिम जानवरों का आतंक,

1. निलय उपाध्याय- पहाड़, पृ. 78

पूँजीपतियों द्वारा आदिवासियों का शोषण, आदिवासियों का पिछड़ापन, धर्म की आड़ में उनका शोषण तथा विद्रोह भी उपन्यास में है। 'रायसाहेब' इस उपन्यास का ज़मीन्दार है। वे आदिवासियों का शोषण कर उन पर सदैव अपनी धाक जमाए रखना चाहते हैं। उपन्यास में दादा दिनेश को समझाते हैं- 'यही वह फूल है जिसका पानी जब ऊपर से काटकर रायसाहेब की घाटीवाली ज़मीन की तरफ मोड़ दिया जाता है, तब दमकड़ी और कई छोटे-छोटे गाँवों के सारे खेत प्यास के मारे सूखकर संगर होने लगते हैं। कृषकों की बौराई फसलें तबाह होने लगती हैं और पीने के पानी की भी भारी किल्लत हो जाती है। ऐसा साल में एकाध बार ज़रूर होता है ताकि लोगों को अपनी रीढ़ की हड्डी रायसाहेब की मुट्ठी में होने का एहसास रहे और कोई भी उनके सामने सिर उठाने की जुर्रत न करे।'¹ कबूतरा समाज की आर्थिक स्थिति के अभाव पर 'राणा' मास्टरजी द्वारा दिये गये स्कूल के लेख में लिखता है -"पिटना-पीटता, मरना-मारना, हमारा काम। गुनिया, औझा, मुखिया, पुलिस हमारे भगवान हैं। कज्जा लोग मालिक और माई बाप। भूख-प्यास हमारी गुँइया है। देह जब गर्मी से जलने लगती है तो हम चोरी से तालाब में नहा लेते हैं। जाड़े में डब हड्डियाँ चटकने लगती हैं तो जंगल से ईंधन चुराकर देह सेंक लेते हैं। सब लोग हमें माफ कर दें बस हम इतना ही चाहते हैं।"² अपने लोगों के ऊपर थोपी गयी ऐसी अमानवीयता के प्रति प्रतिरोध यहाँ देख सकते हैं। मुख्यधारा समाज की अमानवीयता ही यहाँ अनावृत हो उठती है।

1. राकेश वत्स - जंगल के आसपास, पृ. 137

2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 72

आदिवासियों का सामाजिक जीवन बिलकुल सीधा-सादा है। अल्मा कबूतरी उपन्यास की पात्र 'कदम बाई' के शब्दों में आदिवासी जीवन की सादगी देखिए 'हंसना क्या मुश्किल है मलिया काका, खाने को रोटी, पीने को पानी हो बस।"¹ यहाँ यह देखना चाहिए कि आदिवासी समाज जियो और जीने दो' को महत्व देते हैं और यह विचारधारा उनके जीवन में सदा पुष्ट करने का प्रयास भी वह लोग करते हैं। हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में उपन्यास का पात्र 'गोविंद गुरु' इसी अवधारणा को व्यक्त करते हुए अंग्रेजों की मानगढ़ सैनिक कार्रवाई के संदर्भ में कहता है कि 'हमको जीने के लिए केवल अनाज व तन ढकने के लिए कपड़ा चाहिए। आप यहाँ इतनी विशाल सेना लेकर क्यों आए हैं।"² इसके अलावा आदिवासियों की कार्य योजना सामूहिक सहयोगिता एवं अनुशासन पर टिकी हुई है। इसी सामूहिक सहयोगिता के संदर्भ में 'गोपीनाथ महन्ती' का कहना है कि 'वहाँ व्यक्ति खुद को समुदाय का अंग मानता है और समुदाय उन्हें अपना अंग मानता है। समुदाय के बल पर उन्हें भरोसा, होता है कि जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ प्रबन्ध सबका हो जाएगा।"³

निष्कर्ष

आदिवासी समाज के प्रभावशाली सामाजिक मूल्यों पर आधारित विचारधारा एक लंबे अर्से के बाद में आज पूरी तरह परिभाषित हुई है। वह

-
1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 70
 2. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 352
 3. वीर भारत तलवार - झारखंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टीविस्ट के नोट्स, पृ. 80

पहाड़ों पर्वतों, ज़मीन, जंगलों के साथ अपने अस्तित्व की स्थापना के क्रम में रूपायित है। लेकिन यह विचारधारा समकालीन संदर्भ में नष्ट होने की स्थिति में है। क्योंकि वर्तमान संदर्भ में आदिवासी समाज बाहरी और भीतरी दोनों ही तरह की समस्याओं व संभावनाओं के बीच एक संघट, की स्थिति में है। वह एक ओर आधुनिकता और परंपरा के बीच छपपटा रहा है तो दूसरी ओर उसे अपने जल, जंगल और ज़मीन की रिश्तेदारी को भी निभानी है। भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण भी उनके सामने चुनौती के रूप में है जो उनके जीवन के संकट को ओर भी तीव्र कर रहे हैं।

जब एक समुदाय साक्षर होता है, सजग होता है तब वह कई तरीके से कई समस्याओं के विषय में सोचना आरंभ करता है। आदिवासी समाज अन्य समाजों की तुलना में कहीं देर से साक्षर हुआ फिर भी आज इस समाज अपने चारों तरफ की समस्याओं के प्रति सजग है, सक्रिय प्रतिरोध भी व्यक्त कर रहा है, चाहे वह साहित्य में हो या सामाजिक स्तर पर हो। साहित्य में विशेषकर समकालीन उपन्यास में यह प्रतिरोध सशक्त ढंग से अभिव्यक्त हो रहा है। यह प्रतिरोध ही सचमुच आदिवासी साहित्य को विमर्श का दर्जा प्रदान करता है।



तीसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी
उपन्यासों में आदिवासी
जीवन और राजनीति

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति

3.1 समकालीन साहित्य और राजनीति

राजनीति का अर्थ है राज करने की नीति राजनीति समाज को नियंत्रित करनेवाली महत्वपूर्ण नीतियों का संपुज है। मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रदान करके उसे नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ाना ही इसका लक्ष्य है। इसलिए राष्ट्र के भविष्य को निर्धारित करने में उस राष्ट्र की राजनीति का महत्वपूर्ण योगदान है। अर्थात् राज्य का सम्यक संचालन ही राजनीति है। समाज से अलग होकर राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है।

व्यक्ति या समाज के द्वारा संघर्ष या सहयोग के माध्यम से सत्ता के इस्तेमाल के लिए प्रयत्नशील गद्यात्मक गतिविधि ही राजनीति है, “राजनीति शक्ति और प्रभाव संबन्धी वह गद्यात्मक गतिविधि जिसके द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति समूह सहयोग एवं द्वन्द्व के माध्यम से अपने उद्देश्यों की पूर्ती के लिए राजनीतिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं, एवं क्रिया विधियों की औचित्य पूर्ण सत्ता के प्रयोग का प्रयास करते हैं।”¹ जितेन्द्र के अनुसार राजनीति से तात्पर्य उस शास्त्र से है जो राज्य संचालन संबन्धी नीतियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। ये विशेषतः संविधान से संबन्ध होता है जिसे किसी भी देश का संचालन कर्ता उसे जीवन के व्यवहार रूप में परिणत करने का भरसक प्रयत्न करता है।”²

1. डॉ. श्यामलाल वर्मा - आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, पृ. 15

2. डॉ. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, पृ. 96

पाश्चात्य विद्वान वारनॉन वानडायक के अनुसार 'राजनीति एक क्रिया है, वह सार्वजनिक समस्याओं के मध्य द्वन्द्वात्मक इच्छाओं की पूर्ती के लिए किया गया संघर्ष है।'¹

मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में इसका प्रभाव स्पष्ट है। 'पिनाक' एवं स्मिथ ने राजनीति की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त किया है- "राजनीति उन समस्त शक्तियों से संबन्धित है जो राज्य के शासन उसकी नीतियों तथा कार्यों को संग्रहित करती एवं गढ़ती है। इस तरह राजनीति किसी भी समाज में उन सभी शक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनात्मक प्रकारों से संबन्धित होती है, जो किसी समाज में सुव्यवस्था की स्थापना, उसके सदस्यों के सहमार्गित प्रयोजनों को कार्यान्वित तथा उनके मतभेदों का समाधान करने के लिए उस समाज में सर्वाधिक अन्तर्भावी तथा अंतिम सत्ता माने जाते हो।"²

राजनीति और समाज का अन्योन्याश्रित संबन्ध है। किसी भी देश की राजनीति के निर्धारण में वहाँ की सामाजिक संरचना की अहम् भूमिका होती है। सामाजिक-संगठन का आधार ही राजनीति है। लेकिन आज राजनीति सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग हो गयी है। राजनैतिक रूप से सत्ताधारी वर्ग के चरित्र में जो परिवर्तन आया वो 'कुर्सी' की राजनीति में सीमित हो गया। राजनीति का सच्चा उद्देश्य इस संदर्भ में समझ लेना अनिवार्य है।

1. वारनॉन वानडायक पोलिटिक्कल साईंस ए फिलोसफिकल एवलाइसिस, पृ, 133
2. डॉ. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, पृ. 96

“राष्ट्र या राज्य (यहाँ दोनों का अर्थ एक है) का संचालन करने का काम राजनीति है। यह एक कला है विज्ञान भी है, नेतृत्व है, और सर्वोपरि एक दायित्व है, राजसंचालन द्वारा समाज को और समन्वित बनाये रखने का दायित्व।”¹ लेकिन आज इसके विपरीत है राजनीति। आज़ादी के बाद आज तक आते आते राजनीति की गरिमा नष्ट हो गयी है और राजनेताओं की विश्वसनीयता भी घट गई है।”¹

भारत एक लोकतंत्रीय राष्ट्र होने पर भी वहाँ का लोकतंत्र आज सिर्फ एक राजनैतिक विचार धारा या सामाजिक व्यवस्था के रूप में सिमट गया है। वास्तव में लोकतंत्र जो है व्यक्ति और समाज के आपसी संबंधों को तय करता है। वह व्यक्ति को अधिक जिम्मेदार और समाज को अधिक सरोकारी बनाता है। इस संदर्भ में राजनीति का दायित्व है उन क्षेत्रों और समाजों की आवाज़ों और आग्रहों को भी साथ ले आना जिन्हें हाशिए पर निचले स्तर पर फेंक दिये गये हैं। लेकिन आज देश के हाशिए पर छोड़ दिए गए लोगों की सेवा के लिए कोई राजनीति नहीं है। बल्कि उन्हें कई तरह के शोषण के शिकार बनाते जा रहे हैं।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में प्रजा का हित ही सर्वोपरि है। लेकिन आज की राजनीति में नेताओं का स्वहित ही सबकुछ माना जाता है। जिस अच्छे उद्देश्य को लेकर राजनीति की व्यवस्था को कायम किया गया था आज वह उससे कोसों दूर पड गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जनता के हित केलिए

1. भारतीय राजनीति पर एक दृष्टिकोण सं. किशनपटनायक, पृ. 68

रक्षा के लिए लोकतांत्रिक शासन या प्रजातांत्रिक व्यवस्था का गढ़न हुआ था। लेकिन आज़ादी के 70 साल के बाद भी हमारे देश में विकास के संस्पर्श से दूर रहनेवाले आदिवासी समाजों को उनदेखा करनेवाली व्यवस्था कायम है। उनके संसाधनों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है।

3.2 विकास की राजनीति

आदिवासी भारत के प्रथम निवासी हैं, जिनकी जनसंख्या 10.43 करोड़ है, जो देश के कुल जन संख्या का 8.6 प्रतिशत है। ये लोग जल, जंगल और ज़मीन को सर्वस्व माननेवाले हैं। पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर जीवन बिताने वाले इनके जीवन में बाह्यलोगों का हस्तक्षेप होता ही रहता है। हरेक समय में भी अनेक प्रकार से बाहरी हस्तक्षेप से प्रभावित है ये लोग। अंग्रेज़ों के आगमन ने आदिवासी लोगों के जीवन में आमूलचूल बदलाव उपस्थिति किया था।

आदिवासी जीवन की सबसे बड़ी विशेषता सामूहिकता है। सामूहिक जीवन को महत्व देनेवाले लोगों के जीवन में बदलाव लाने में बाहरी हस्तक्षेप की भूमिका सर्वाधिक है। क्योंकि आदिवासी समाज की अपनी विशेष जीवन प्रणालियाँ हैं। सत्ता-व्यवस्था है, नेता है। सब को समान रूप में देखने की प्रवृत्ति विद्यमान है। ऐसे समाज पर जो बाहरी हस्तक्षेप होता है उसका असर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्तर पर बदलाव लाते हैं।

अंग्रेज़ों के आगमन से शुरू हुए बदलाव अब भी जारी हैं। जीवन के आधारभूत तत्व जंगल का नाश करते हुए अंग्रेज़ों आदिवासी समाज की मूलसत्ता को भी जड़ों से फेंक दिया, 'शुरुआती दौर में भारतीय वनों ने ब्रिटिश जहाज़रानी उद्योग को उम्दा लकड़ी मुहैया करायी। इसके बाद अंग्रेज़ों का ध्यान समूचे भारतीय साम्राज्य को रेलवे से जोड़ने की ओर मुड़ा जिसमें पटरियाँ बिछाने के लिए उपजी लकड़ियों की बृहद् माँग ने वनों का महत्व और बढ़ा दिया। अंग्रेज़ी शासन व्यवस्था आने से खेती की ज़मीनों पर लगान, वनों की उपज पर पाबंदी व वसूली, बेगार शोषण, हत्या और अत्याचारों का कहर उनके जीवन में बर्बाद किया।"¹ स्पष्ट है कि ब्रिटिश उपनिवेश को सिर्फ धन चाहिए था। आदिवासियों का अस्तित्व मिटे या अस्मिताएं इससे उनका कोई खास लेना-देना नहीं था।

सामान्यतः वनोपज से ही आदिवासियों का जीवन चलता था। लेकिन उस पर लगायी गयी पाबंदियों ने आदिवासियों की समस्याओं को और बढ़ाया। खेती करने के लिए और बाद में फसल लेते समय भी सरकार को लगान देना था।

ब्रिटिश सरकार की ऐसी गतिविधियों ने ही आदिवासियों को विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों के लिए मजबूर कर दिया था। आदिवासियों के ऐतिहासिक आन्दोलन जैसे खासी विद्रोह, मुंडा विद्रोह, संथाल विद्रोह, भीर विद्रोह आदि में आदिवासी अस्मिता की ही लड़ाई थी।

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 40

राजतंत्र और ब्रिटिश तंत्र खत्म होने के बाद देश स्वतंत्र हुआ। जब देश आजाद हुआ तो उनको बड़ी उम्मीद थी कि अब सब कुछ ठीक हो जाएँगे। यह धारणा गलत स्थापित हुई। एक शोषण मुक्त और समतानुत्त सामाजिक जीवन के निर्माण में भागीदार होनेवाले समाज से आदिवासी दूर होने लगे। आदिवासी समाज को असंपृश्य और असभ्य कहकर उन्हें देश के नवनिर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित रखा, राष्ट्रीय जीवन की मूलधारा से भी काट दिया।

आदिवासी समाज सदियों से सर्वानुमति पर टिके स्वशासन पर ही चलता रहा है। लेकिन देश के विकास के लिए संसदीय चुनाव व बहुमत के आधार पर टिके लोकतंत्र पर आज आदिवासी समाज भी पूर्णतः भाग लेने के लिए तैयार हो गए हैं। लेकिन आदिवासी को सिर्फ वोट बैंक के रूप में ही माना जा रहा है उससे बढ़कर लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में उनकी कोई अस्मिता नहीं गयी है।

देश आजाद होने से पहले अंग्रेजों ने ही आदिवासियों को जंगल में प्रवेश करने वनों में उत्पन्न खाद्य-वस्तुओं का उपयोग करने आदि में कई प्रकार की वन-नीतियाँ, वन प्रबंधन और वन-कानून बनाकर प्रतिबन्ध लगा दिया था। आजादी के बाद औद्योगिकीकरण तथा व्यापारियों की धनलिप्सा आदि ने इन कानूनों को आगे बढ़ाने की भूमिका तैयार की। इस प्रकार अपने ही देश की सरकार द्वारा जंगलवासियों को उनके परंपरागत वन-अधिकारों को लगातार खदेड़ने की व्यवस्था को स्वीकार किया गया।

3.3 आदिवासी समाज में राजनीतिक हस्तक्षेप

कहा जाता है कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति एवं स्थिरता के लिए तथा उसमें निवास करनेवाली प्रजा के जीवन स्तर के विकास के लिए राजनीतिक वातावरण का स्वस्थ होना पहली तथा अनिवार्य शर्त है।¹ लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में इस दृष्टि का हास हो गया है। आज-कल राजनीति नैतिकता विहीन बन कर सिर्फ 'कुर्सी' की राजनीति में सीमित हो गयी है। जनता को रोटी, कपड़ा मकान और स्वस्थ जीवन देने के बजाय रोज़ आश्वासनों की छूटी वादाएँ देनेवाले भ्रष्ट राजनीतिक लोग ही सर्वत्र दिखाई देते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र के इस विघटित और पतनोन्मुख स्वरूप को उजागर करनेवाला है समकालीन साहित्य। साहित्य और राजनीति अटूट संबन्ध है वह एक दूसरे का पूरक है। 'अज्ञेय' जी ने कहा भी है 'साहित्य और राजनीति को दो पृथक और विरोधी तत्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के से संघर्ष-युग में वह मुखतापूर्ण सा ही है।'² स्पष्ट है कि जिस प्रकार जीवन और साहित्य एक-दूसरे से आश्रित है वैसे ही जीवन और राजनीति। राजनीति के गतिविधियों का परिणाम सीधे जनता पर पडता है। इसलिए जनता के सामाजिक जीवन में राजनीति का महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है।

समकालीन साहित्य सचमुच संघर्ष का साहित्य है। अपने समाज की

-
1. डॉ. सुधाकर अडीब - हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन, पृ. 141
 2. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 73

प्रतिकूलताओं के खिलाफ निरंतर संघर्षरत पात्र समकालीन साहित्य को जीवन्त एवं सक्रिय बना देते हैं। अन्य विमर्शों के साहित्य के समान आदिवासी साहित्य भी अपने समय की असंगतियों के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले तथा आदिवासी जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए उनकी अपनी अस्मिता के संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला दस्तावेज़ बन गया है। बाहरी हस्तक्षेप से पिसते, कराहते, विद्रोह करते आदिवासी जन-जीवन का आक्रोश है उनका साहित्य। वे पग-पग पर शोषित एवं पीडित हैं। विभिन्न शोषक शक्तियों से निरंतर शोषित आदिवासी जनता के जागरण का इतिहास है आदिवासी विमर्श। राजनीति और उनके दल दलबदल उनको धोखा देकर कई प्रकार से उनका शोषण कर रहे हैं। इस सच्चाई का अनावरण करते हुए आदिवासी साहित्यकारों ने अपना आक्रोश प्रकट किया है। यही साहित्य के सन्दर्भ में आदिवासी विमर्श है।

भारतीय औद्योगीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन मुख्यतः आदिवासी क्षेत्रों से ही आते हैं। विकास के नाम पर आदिवासी समाज को लूटनेवाली शासन व्यवस्था के प्रति रोहिणी अग्रवाल की टिप्पणी है-‘नवउदारवादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के गठबंधन ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अनायास ही यह अधिकार दे दिया है कि विकास के नाम पर मदद हेतु वे तीसरी दुनिया के तम्बू में ऊंट की भांति पांव पसारे और फिर मूल निवासियों को ही वहाँ से खदेड़ दे।’¹ यह आज की सच्चाई है।

1. अभयकुमार दुबे - प्रतिमान जनवरी - जून, 2013, पृ. 218

बाज़ारोन्मुख विकास के इसी कारपोरेट दर्शन की विसंगति को रेखांकित करते हुए फैसल अनुराग का मत है - “विकास के लिए जिन नीतियों की वकालत की जा रही है, वे न केवल प्रकृति के साथ साहचर्य को तोड़ती हैं बल्कि प्रकृति और आदिवासी समाज के बीच जीवंत संबन्धों को नुकसान भी पहुँचाती है।”¹

औद्योगिककरण की प्रक्रिया ने अस्तित्व को ही नहीं आदिवासियों की अस्मिता को भी मिटा दिया। आदिवासियों को यह विकास नीति मददगार नहीं है। पर सरकार के तानाशाही पूर्ण रवैये से उन्हें अपने घर जंगल को छोड़कर जाना पड़ा। सरकारी नेताओं ने उनसे कहा कि उन्हें अपनी ज़मीन तो देनी ही पड़ेगी। ‘समर शेष है उपन्यास में राष्ट्र हित के लिए अपनी ज़मीनें छोड़ देने की बातें यों करते हैं - “देखो भाई राष्ट्रहित में त्याग तो करना ही पड़ता है। देश के विकास के लिए स्टील की कितनी अहमियत है यह तुम लोग नहीं समझोगे। इसके अलावा हर विस्थापित परिवार के एक सदृश्य को हम नौकरी भी तो दे रहे हैं।”² बड़े-बड़े कारखाने के निर्माण करते हुए विकास चालू करना तो अधिकारी वर्ग चाहते हैं। साथ ही आदिवासी लोगों को नौकरी देने की झूठी वादें भी देते हैं।

विकास के नाम पर आदिवासी गांवों को तहस-नहस करके युरेनियम खनन करनेवाली योजना पर ‘मरंग गोडा नीलकंठ हुआ’ नामक उपन्यास में

-
1. सं. उर्मिलेश - उदारीकरण और विकास का सच, पृ. 205
 2. विनोदकुमार - समरशेष है, पृ. 167

चर्चा की गई है - “सगेन एक दिन देखता है कि नई खदान कंपनी के लोग कई पुलिस कर्मियों के साथ खड़े होकर उसकी झोंपड़ी को उस गाड़ी से तुडवा रहे हैं। कांडे के घर के लोग... उनके पड़ोसी हाय-तौबा मचा रहे हैं मगर वे किसी की बात नहीं सुन रहे हैं। देखते-देखते करीब बाईस झोंपड़ी उज़ाड़ दी गई।... और... और उन झोंपड़ियों तथा झोंपड़ियों के आसपास के तमाम खेतों को समेटकर वहाँ एक बड़ा सा डैम बन दिया गया। कहा गया कि खदान कंपनी की मिल से निकले कचरे को गिराने के लिए बनाया गया है वह।”¹ सत्ताधारी वर्ग के लिए मिट्टी या ज़मीन सिर्फ बेचने की वस्तु या दोहन और उपभोग की वस्तु बन गये हैं। उनके लिए ज़मीन उर्वर और जीवंत की वाहक नहीं है।

समर शेष है उपन्यास में भी कारखाने के लिए आदिवासीयों की ज़मीन हडप लेते हैं। ज़मीन के बदले ये मुआवजा देने का वादा देकर धोखे देते हैं। सब उपन्यास में अधिकारी वर्ग आदिवासियों के यह सिखा देते हैं कि - “क्या रखा है खेती-बाड़ी में। ज़माना औद्योगिककरण का है। इस क्षेत्र में न सिचाई का साधन है न उर्वरा ज़मीन। ज़मीन का मुआवजा मिलेगा पुनर्वास क्षेत्र में रहने की जगह। खेती-बाड़ी ही करनी है तो जो पैसा मिले उससे नई ज़मीन खरीद लो।”²

विकास के नाम पर आदिवासी इलाकों में होनेवाली अनीतियों के खिलाफ विचार करने पर अधिकारी वर्ग उन्हें धमकाने की कोशिश भी करते हैं। ‘मरंग गोडा नीलकंठ हुआ’ में युरेनियम खदान के विरोध में आवाज़

1. महुआ माजी - मरंगा गोडा नीलकंठ हुआ, पृ. 84

2. विनोद कुमार, समर शेष है, पृ. 175

उठाने पर अधिकारि वर्ग 'सगेन' को धमकाने की कोशिश करते हैं। 'युरेनियम या परमाणू का मामला अत्यंत संवेदनशील मामला है। इसके खिलाफ सार्वजनिक रूप से कुछ भी बोलना या कोई भी कदम उठाना देशद्रोह माना जाता है। इस मामले में कंपनी तथा प्रशासन का रवैया अत्यंत सख्त है। ऐसा करने पर किसी भी वक्त किरफ्तार किये जा सकते हो। कठोर से कठोर सजा हो सकती है।"¹ आज राजनीति या प्रशासनिक लोग आमजनता के हित के लिए कर्मरत नहीं है। बल्कि वह करोड़पतियों और पूँजीपतियों के साथ है।

वर्तमान समय में सरकार कई योजनाओं के लिए भूमि का अधिग्रहण करती रहती है! यह कभी स्कूल, अभ्यारण्य, बांध खनन और कभी उद्योग-धंधों के लिए भी करती रहती है। लेकिन यह अधिग्रहित की जानेवाली ज़मीन आदिवासियों से बड़ी आसानी से हड़प लेनेवाली है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रणेन्द्र बताते हैं कि सरकार के लिए भेड़ियों को बचाया जाना ज़्यादा ज़रूरी है। देश में भेड़ियों की संख्या कम होने से सरकार चिंतित है। उन्हें बचाने के लिए सरकार अभ्यारण्य बनाने का महत्वपूर्ण कदम उठाती है, जिसके लिए आदिवासियों की भूमि का अधिग्रहण किया जाता है। उपन्यास में सखुआपाट में जब 'लालचन' दा बुधनी के केबिन में आता है तब इस बात का खुलासा मिलता है - 'वनविभाग ने खतियान में दर्ज सैतीस वन गाँवों को खाली करने की नोटिस दी है। क्या तो भेड़िया सबको बचाने के लिए कोई योजना है।"²

1. महुआ माजी - मरंगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 162

2. रणेन्द्र - ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 78

